जिससे तेरा अर्जुन । चित्त करे आकलन ।
वैसे करूं निरूपण । विनोदसे ॥ ७६ ॥

नाम अब जिसका योग । उसका क्या है उपयोग ।
तथा अधिकार प्रसंग । कहूँगा तुझे ॥ ७७ ॥

ऐसा जो जो कुछ है । अब तक जो कहा है ।
वह सारा तुझसे है । कहूँगा अभी ॥ ७८ ॥

अब तू चित्त देकर । कथा सुन धनुर्धर ।
ऐसा कहता श्रीधर । अर्जुनसे ॥ ७९ ॥

श्रीकृष्ण अर्जुनके संग । न छोड़के कहेगा योग ।
व्यक्त करूं वह प्रसंग । कहता निवृत्ति दास ॥ १८० ॥

गीता श्लोक २९

ज्ञानेश्वरी ओवी १८०.

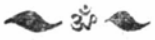

६

आत्म-संयमयोग

छठे अध्यायकी भूमिका—

राजासे कहता संजय । सुनिये अब अभिप्राय ।
श्रीकृष्ण कहता है वाक्य । योग-रूप ॥ १ ॥

ब्रह्म-रसका सहज पारण । देता अर्जुनको श्रीनारायण ।
अतिथिरूप पहुँचे उसी क्षण । हम भी वहाँ ॥ २ ॥

न जाने देवकी महता । तृषित जब पानी पीता ।
तब स्वाद लेके देखता । अमृत है यह ॥ ३ ॥

ऐसे हमें तुम्हें हुआ है । अनायास तत्व मिला है ।
किंतु धृतराष्ट्र बोला है । यह न पूछा हमने ॥ ४ ॥

इस बोलसे तब संजय । समझा है राजाका हृदय ।
हुआ है इन्हें मोह संचय । स्व कुमारोंका ॥ ५ ॥

सोचकर वह हँसा मनमें । बुध्दि नासी है बूढेकी मोहमें ।
योग जो अमृतोपम क्षणमें । चला है अब ॥ ६ ॥

किंतु इन्हें यह कैसा भायेगा । जन्मांध भला कैसा देखेगा ।
यह सब इन्हें कौन कहेगा । सोचता संजय ॥ ७ ॥

होकर वह प्रमुदित । देकर अपना सुचित्त ।
श्रवण की हुई जो बात । नरनारायणमें ॥ ८ ॥

अमृतानंदकी उस तृप्तिसे । साभिप्राय अंतःकरणसे ।
कहेगा वह अत्यादरसे । धृतराष्ट्रको ॥ ९ ॥

गीतामें वह षष्ठीका । प्रसंग है चातुर्यका ।
समुद्रार्णवमें अमृतका । उदय जैसा ॥ १० ॥

वैसा गीतार्थका है सार । विवेक सिंधुका है पार ।
योग-वैभवका भांडार । खुला है जो ॥ ११ ॥

आदि प्रकृतिका जो विश्रांतिस्थान । हुए हैं जहां शब्द-ब्रह्म भी मौन ।
अंकुरित हो फैला है गीता ज्ञान । वहांसे ही ॥ १२ ॥

ज्ञानेश्वरका देश-भाषा प्रेम—

अध्याय है यह छटा । साहित्यमें अनूठा ।
कहता मैं सुन सुभटा । चित्त देकर ॥ १३ ॥

मेरी देशीके बोल सुंदर । वे हैं अमृतसे भी मधुर ।
ऐसे सरस सरल अक्षर । जोडूंगा मैं ॥ १४ ॥

जो हैं कोमलसे अति कोमल । सप्त स्वर नादसे भी विमल ।
टूटेगा परिमलका भी बल । इन शब्दोंसे ॥ १५ ॥

इसकी सरसताका लोभ । बनायेगा कानको भी जीभ ।
होगा इंद्रिय कलहारंभ । इसे सुननेमें ॥ १६ ॥

विषय है शब्द सुनना श्रवणका । जीभ कहेगी मेरा विषय रसनाका ।
घ्राण कहेगा भाव है परिमलका । यही होगा ॥ १७ ॥

कौतुक करेंगी काव्य रसका । देख कर आंखें शब्द चित्रका ।
कहेंगी खुला है रूप-कोशका । सु-प्रदर्शन ॥ १८ ॥

संपूर्ण पद आता जहां उभर । मन दौड़ आता है वहां बाहर ।
आगे उठ आयेंगे दोनों कर । आलिंगन करने ॥ १९ ॥

अजी ! इंद्रियां ऐसे अपने भावमें । लडेंगी अपनेमें रसिक-पनमें ।
जैसा अकेला प्रकाशता जगतमें । सहस्रकर ॥ २० ॥

शब्दोंकी है ऐसी ही व्यापकता । जानो उसकी असाधारणता ।
भावज्ञोंको अर्थकी व्यापकता । चिंतामणिकी ॥ २१ ॥

निष्काम भावसे दिये गये शब्द-भोजनका आनंद—

ऐसा है सरस शब्द भोजन । परोसा कैवल्य रसमें सान ।
किया है मैंने यह संतर्पण । निष्काम भावसे ॥ २२ ॥

अजी ! आत्म प्रकाश नित्य नया । उसको ही बना करके दिया ।
इंद्रियोंसे चुरा करके खाया । जिसने पाया वह ॥ २३ ॥

श्रवणेंद्रियोंको जिस भोजमें । बिठाना पड़ता है पंगतमें ।
खाना है अंतर्मुख हो मनमें । यह अमृतान्न ॥ २४ ॥

खोलना यहां शब्दका आच्छादन । करना अर्थ ब्रह्मका आस्वादन ।
होना फिर सुख समरसैक्य जान । सुख रूप होके ॥ २५ ॥

आयेगा जब चितमें कोमलपन । होगा तब सफल यह निरूपण ।
न तो होगा यह वाचा विहार मान । गूंगे बहरोंका ॥ २६ ॥

अजी ! जाने दो यह सब । श्रोताका चुनाव क्यों अब ।
वे सब अधिकारी अब । जो हैं निष्काम काम ॥ २७ ॥

जिनका आत्म-बोधका प्यार । करे स्वर्ग-संसार न्योच्छावर ।
न जाने अन्य माधुर्य अमर । यहांका जी ॥ २८ ॥

काक जैसे चांदनी न जानता । विषयासक्त "तत्व" न जानता ।
वैसे सदा चंद्रकिरण खाता । चकोर पक्षी ॥ २९ ॥

वैसे ज्ञानियोंका है यही आधार । अज्ञानियोंको उसमें नहीं सार ।
इसमें नहीं बोलना कछु और । रहा अधिक ॥ ३० ॥

प्रसंग आया तब कहे यह वचन । क्षमा करेंगे सभी संत सज्जन ।
कहूंगा अब मैं वह निरूपण । श्रीरंगका कहा ॥ ३१ ॥

श्री गुरुको वंदन—

आता नहीं वह बुद्धिके बोधमें । नहीं आता है शब्दके परिधमें ।
निवृत्ति-कृपाके दीप-प्रकाशमें । देखूंगा मैं ॥ ३२ ॥

दृष्टिसे जो देखा नहीं जाता । दृष्टि बिन ही वह दीखता ।
ज्ञान बल जब प्राप्त होता । अतींद्रिय जो ॥ ३३ ॥

धातुवादसे जो न मिलता । लोहेमें ही वह प्राप्त होता ।
पारस यदि हाथमें आता । दैवयोगसे ॥ ३४ ॥

सद्‌गुरुकी जब कृपा होती है । सभी बात तब संभव होती है ।
हम पर वह कृपा अपार है । कहता ज्ञानदेव ॥ ३५ ॥

इस कृपा प्रभावसे मैं बोलूंगा । शब्दमें अरूप रूप दिखाऊंगा ।
अतींद्रियकी प्रतीति कराऊंगा । इंद्रियोंसे ॥ ३६ ॥

सुनो यश श्री औदार्य । ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य ।
ये जो छे गुणवर्य । रहते जहां ॥ ३७ ॥

वही है जो भगवंत । रहता निसंगके साथ ।
कहे पार्थ दत्त-चित्त । होकर सुन तू ॥ ३८ ॥

भगवान उवाच

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥

एक ही स्थान पर पहुंचनेवाले दो मार्ग—

योगी तथा संन्यासी जगतमें । एक है, भिन्न माने तू मनमें ।
देखें जब दोनों विचारांतमें । एक ही है ॥ ३९ ॥

छोड दो , दो नामका आभास । वही योगी औ' वही संन्यास ।
जैसे ब्रह्ममें ना अवकाश । वैसे दोनोंमें देख ॥ ४० ॥

अजी ! भिन्न भिन्न नामसे हैं जैसे । बुलाते एक ही पुरुषको वैसे ।
अथवा जाते हैं दो भिन्न मार्गसे । एक ही स्थान ॥ ४१ ॥

अथवा जैसे उदक मात्र एक । भिन्न घटमें भरनेसे अनेक ।
वैसे हैं योगी संन्यास विषयक । भिन्न भिन्नत्व ॥ ४२ ॥

श्री भगवानने कहा

फलका आसरा छोड करे कर्तव्य कर्म जो ।
संन्यासी या वही योगी न जो निर्यज्ञ निष्क्रिय ॥ १ ॥

विश्वमें जो सकल समस्त । योगी है वह सुन तू पार्थ ।
कर्म करके भी जो आसक्त । फलमें नहीं होता ॥ ४३ ॥

भूमि जैसे उपजाती उद्बीज । बिना अहंभावके ही सहज ।
न करती कभी उसके बीज । अपेक्षा वह ॥ ४४ ॥

वैसे है कुल-धर्मका आधार । वर्ण धर्मानुसार है आचार ।
करता जो यहां स-अवसर । वही सभी ॥ ४५ ॥

करता रहता है उचित । किंतु कर्तव्य-भाव रहित ।
तथा फल विन्मुख हो चित । अन्तःकरणसे ॥ ४६ ॥

सुन तू अर्जुन मेरी बात । रहता ऐसा संन्यासी नित ।
मानो उस विश्वाससे नित । योगीश्वर ॥ ४७ ॥

तथा उचित कर्म प्रासंगिक । छोडते उसे कहके बद्धक ।
किंतु तुरंत दूसरा ही एक । करते प्रारंभ ॥ ४८ ॥

जैसे एक लेप धोकर । लगाते दूसरा तन पर ।
वैसे आग्रहसे निरंतर । कष्टमें पडते ॥ ४९ ॥

अजी ! गृहस्थाश्रमका बोझ । आया जो सिरपर सहज ।
वहां संन्यासका रख साज । चलते आगे ॥ ५० ॥

तभी वे अग्नि सेवाको नहीं छोड़ते । कर्म-रेखाका उल्लंघन न करते ।
योग-सुखको हैं अनुभव करते । सहज भावसे ॥ ५१ ॥

उच्च स्थितिकी प्राप्तिकेलिये अष्टांग योगकी सीढियां—

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ॥ २ ॥

योगी जो है वही संन्यासी । विश्वमें एक-वाक्याता-सी ।
ध्वज गाड़के कही जैसी । शास्त्रोंने सभी ॥ ५२ ॥

संन्यास जो कहा जाता उसीको योग जान तू ।
योगी होता नहीं कोयी बिना संकल्प त्यागके ॥ २ ॥

जहां संन्यस्तका संकल्प टूटता । वहीं योगका सार-तत्व मिलता ।
अनुभवसे ऐसा है जो घड़ता । वही योगी औ' संन्यासी ॥ ५३ ॥

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते ।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

योगाचलके जो शिखरपर । चढ़ना चाहे वह निरंतर ।
कर्म-पथ सोपान धनुर्धर । न छोड़ता कभी ॥ ५४ ॥

यम नियमकी है तरायीसे । आसनादिककी पगडंडीसे ।
प्राणायाम टेकडी लांघनेसे । पहुंचता है वहां ॥ ५५ ॥

टूटा पहाड खड़ा प्रत्याहारका । फिसलता वहांसे पैर बुद्धिका ।
टूटता वहां बंध प्रतिज्ञाका । योगीका भी ॥ ५६ ॥

वहां अभ्यासके बलसे । वैराग्यके कसे पंजोंसे ।
चिपकके प्रत्याहारसे । हौलेसे चढ़ना ॥ ५७ ॥

पवन वाहनसे ऐसे । धारणाके राज पथसे ।
ध्यानके शिखर पारसे । होना पार ॥ ५८ ॥

फिर उस पथकी है दौड़ । मिटेगी प्रवृत्तिकी जो होड़ ।
होगा साध्य साधनका गाढ़ । आलिंगनैक्य ॥ ५९ ॥

रुकती जहां भविष्यकी प्रवृत्ति । मिटती है वहां भूतकी भी स्मृति ।
इसी भूमिका पर है होती स्थिति । कहता हूं सुन ॥ ६० ॥

इन उपायोंसे जो योगारूढ । होके परिपूर्ण अखंड प्रौढ ।
हुए उसके लक्षण प्रौढ़ । कहता हूं सुन ॥ ६१ ॥

यदाहि नेंद्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥

योगपे चढ़ जानेमें कर्म कारण है कहा ।
योगपे चढ़ जानेपे शम साधन है कहा ॥ ३ ॥
न लीपता कर्मसे जो विषयोंमें विरक्त है ।
संकल्प छूटते सारे योगारूढ हुवा जब ॥ ४ ॥

इंद्रियोंद्वारा सतत कर्म, अंतर्यामी नैष्कर्म्य--

अजी ! इंद्रियोंके घरमें जिसके । आना जाना नहीं विषयोंके ।
तथा कक्षमें जो आत्मबोधके । सोता रहता है ॥ ६२ ॥

आघातोंके सुखदुःखसे । जगता नहीं मानस जिसके ।
स्पर्शसे भी विषयादिकोंके । न होता स्मरण ॥ ६३ ॥

इंद्रियां जिसकी कर्ममें । रत होती दिन रातमें ।
फलाषा अंतःकरणमें । न जगती कभी ॥ ६४ ॥

देहधारी वह रहकर । करता है ऐसा व्यवहार ।
जागृत रहकर सोकर । योगारुढ ॥ ६५ ॥

अर्जुन कहता है अनंत । सुनकर होता हूं वह चकित ।
कहां उसमें यह योग्यता । आती कहांसे ॥ ६६ ॥

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥

यह स्थिति स्वयं प्राप्त करनी होती है —

स्मित कर कृष्णका कहना । अचरजका तेरा बोलना ।
किसको किसका लेना देना । अद्वैतमें यहां ॥ ६७ ॥

अविवेककी शैय्या पर । अविद्या निद्रामें सोकर ।
शिशु देखे स्वप्न भयंकर । जन्म मृत्युका ॥६८ ॥

होता है फिर अकस्मात् जागृत । तब होती है स्वप्नकी व्यर्थ बात ।
आता है यही अनुभव सतत । अपनेको ही ॥ ६९ ॥

इसीलिये आप ही है अपना । घात करते रहते अर्जुन ।
चित्त देकरके देहाभिमान । जो है निरर्थक ॥ ७० ॥

उभारना अपनी आत्मा न देना गिरने कभी ।
आप ही अपना बंधु आपही शत्रु आपका ॥ ५ ॥

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥

ऐसा सोचके अहंम्‌को त्यागना । फिर वस्तुका दर्शन करना ।
इससे होगा कल्याण अपना । आपने किया ऐसा ॥ ७१ ॥

नहीं तो कोशकीटक जैसे । बने अपना वैरी आप जैसे ।
तन पर आत्म-भाव रखनेसे । बनते हैं नित ॥ ७२ ॥

प्राप्ति वेलामें दैव हीनकी । चाह होती है अंधत्वकी ।
तथा अपनी ही आंखोकी । मिटती दृष्टि ॥ ७३ ॥

कभी कोई कहता भ्रमसे । यह मैं नहीं चुराया ऐसे ।
अंतःकरणमें फंसे फंदसे । अपनी कल्पनाके ॥ ७४ ॥

देखें तो वह पहले जैसा । किंतु न जानती बुद्धि ऐसा ।
स्वप्नके घावसे कोई जैसा । मरता नहीं ॥ ७५ ॥

अंग भारसे शुकके जैसे । नलिका घूमती उलटके ।
शुक बैठे उसे पकडके । न उडता शंकासे ॥ ७६ ॥

व्यर्थ ही चहूं ओर देखता । संकोचसे नली पकडता ।
वही कसकर पकड़ता । पैरोंसे शुक ॥ ७७ ॥

अपनेको बंधनमें मानकर । भावनासे स्वयं जकड़कर ।
पैरोंसे पकड़ता है कसकर । मुक्त होकर भी ॥ ७८ ॥

कारणके बिन जकड़ा हुआ । किसीसे क्या वह बंधा हुआ ।
खींचने पर भी पकड़ा हुआ । रहता सतत ॥ ७९ ॥

ऐसा रिपु है अपने आप । जिसने बढ़ाये हैं संकल्प ।
न लेता मिथ्याभिमान आप । वह है बंधु अपना ॥ ८० ॥

जीतता अपने आप आपही अपना सखा ।
छोडा यदि उसे स्वैर अपना शत्रु है बना ॥ ६ ॥

जितात्मनः प्रशांतस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्ण सुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७॥

आत्मज्ञका वर्णन—

उस स्वांतःकरणजित । सकल कामनादिसे शांत ।
परमात्म उसके सतत । रहता सपीप ॥ ८१ ॥

जलानेसे सोना हीन कस । होता है जो विशुद्ध सरस ।
वैसा जीवका ब्रह्मत्व खास । मिले संकल्प लोपसे ॥ ८२ ॥

घटाकारके मिटनेपर जैसे । घटाकाश मिलनेमें आकाशसे ।
जाना नहीं लगता अन्यत्र जैसे । वैसे अर्जुन ॥ ८३ ॥

नाश हुआ देहाहंकारका । कारणोंके सहित मूलका ।
वास सर्वत्र परमात्माका । अनादि सिद्ध है ॥ ८४ ॥

शीत उष्ण आदिका द्वंद्व । औ' सुख दुःखका चुनाव ।
मानापमान अनुभव । नहीं वहां ॥ ८५ ॥

जिस दिशामें जाता है भास्कर । प्रकाश फैलाता है उसी ओर ।
जिसका स्वरूप है वही स्थिर । दीखता सतत ॥ ८६ ॥

मेघसे गिरी वर्षाकी धार । न चुभे जैसे कभी सागर ।
वैसे शुभाशुभ योगेश्वर । नहीं अनुभवता ॥ ८७ ॥

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥

जो है यह विज्ञानात्मक भव । सोचनेसे व्यर्थत्व अनुभव ।
फिर हुआ अपना अनुभाव । वही ज्ञान है ॥ ८८ ॥

हुवा शांत जितात्मा जो देखता ब्रह्म केवल ।
शीतोष्ण सुख औ' दुःख मानापमानमें नित ॥ ७ ॥
ज्ञान विज्ञानमें तृप्त स्थिर इंद्रिय जीतके ।
देखता सम जो योगी सोना पाषाण मृत्तिका ॥ ८ ॥

मैं अमर्याद या मर्यादित । इसकी चर्चा भी हुई व्यर्थ
अनुभवमें न आता द्वैत । इसीलिये ॥ ८९ ॥

शरीर है किंतु कौतुक । परब्रह्म-धाम है नेक ।
जिन्होंने जीत लिया देख । इंद्रियोंको ॥ ९० ॥

जो है जितेंद्रिय सहज । वही योग-युक्त समझ ।
वहां छोटे मोटेका दूज । कभी नहीं ॥ ९१ ॥

सोनेका मेरु पर्वत । माटीका ढेर या पात ।
मानता समान नित । समदृष्टिसे ॥ ९२ ॥

पृथ्वीके मोलका प्रसिद्ध । रत्न पाता जो शुद्ध ।
तथा पत्थर भी असिद्ध । एक जैसा ॥ ९३ ॥

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबंधुषु ।
साधुष्वपिच पापेषु समबुध्दिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥

सुहृद और शत्रु । उदास और मित्र ।
भेदाभेद विचित्र । कल्पना नहीं ॥ ९४ ॥

या बंधु है कौन उसका । द्वेष करे कौन किसका ।
मैं हूँ विश्व ऐसा जिसका । हुआ अनुभव ॥ ९५ ॥

कहो कैसे फिर उसकी दृष्टि । जाने अधम उत्तम किरीटी ।
दिखाये कैसे पारस कसौटी । सोना औ' लोहकी ॥ ९६ ॥

विवर्णको सुवर्ण करता पारस । वैसे चराचरसे होता समरस ।
बुद्धिमें समता रहती है सरस । निरंतर उसकी ॥ ९७ ॥

विश्वालंकारके प्रकार । अनेक रूपके आकार ।
मूलमें स्वर्ण है धनुर्धर । परब्रह्म रूप ॥ ९८ ॥

प्राप्त जिसे ऐसा उत्तम ज्ञान । नाना प्रकार देख असमान ।
नहीं फंसता वह बुद्धिमान । आकार-जालमें ॥ ९९ ॥

शत्रु मित्र उदासीन मध्यस्थ आप्त औ' पर ।
साधु या पातकीमें भी सम-बुध्दि विशिष्ट सो ॥ ९ ॥

डालनेसे वस्तुपर दृष्टि । दीखती सभी सूतकी सृष्टि ।
वहां है नहीं दूसरी गोष्टि । सूतके विना ॥ १०० ॥

ऐसा प्रतीत जो है करता । अनुभव ऐसा जहां होता ।
वही समबुद्धि कहलाता । नहीं अन्य ॥ १ ॥

होता है वह तीर्थ-राज समान । उसके दर्शनसे हो समाधान ।
होता संगसे ब्रह्मभावका ज्ञान । भ्रमिष्टको भी ॥ २ ॥

धर्मका सारस्य करती है उसकी गोष्टि । महा-सिद्धिको जन्म देती उसकी दृष्टि ।
स्वर्गादि सुखकी करना है नव-सृष्टि । खेल है उसको ॥ ३ ॥

यदि कोई सहज स्मरता । देते हैं वे अपनी योग्यता ।
उनकी प्रशंसा स्वभावता । देती शुभ-लाभ ॥ ४ ॥

योगी युञ्जीत सततम् आत्मानं रहसि स्थितः ।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥

कभी अस्त न होगा ऐसे । देखा अद्वैत दिवससे ।
आप रहता है अपनेसे । अखंडित ॥ ५ ॥

इस दृष्टिसे वह विवेकी है । अर्जुन जो एकाकी रहता है ।
त्रिभुवनमें वही होनेसे है । सहज अपरिग्रही ॥ ६ ॥

ऐसे हैं जो असाधारण । प्राप्त पुरुषके लक्षण ।
सर्वज्ञताके ही कारण । श्री कृष्ण कहता ॥ ७ ॥

यह है ज्ञानियोंका बाप । सबकी दृष्टिका है दीप ।
उसका समर्थ संकल्प । रचता विश्वको ॥ ८ ॥

हाटमें है जो प्रणवके । वस्त्र बना शब्द-ब्रह्मके ।
लपेट न सका उसके । यशसे छोटा बड़ा ॥ ९ ॥

उसकी है अंगकी कांतिसे । प्रकाशते रवि-शशि ऐसे ।
विश्व क्या उसके प्रकाशसे । ओझल है पार्थ ॥ ११० ॥

इच्छा संग्रहको छोड़ चित्तको करके वश ।
आत्मामें ही सदा लीन रहा एकांत भावसे ॥ १० ॥

जिसके नामके ही सम्मुख । आकाश लगता बौना देख।
उसका गुण तू एक एक । कैसा जानेगा ? ॥ ११ ॥

इसीलिये ऐसा वर्णन । न जाने किसके लक्षण।
कहनेके बहाने मान । कहे हैं यहां ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णका भक्त प्रेम—

सुनोजी द्वैतका स्थान मान । नष्ट करता है ब्रह्म-ज्ञान।
उससे सख्य माधुरी जान । नष्ट होगी ॥ १३ ॥

इसीलिये हरिका यह बोलना । मानो हलकासा परदा रखना।
मनके सख्य सुखको है भोगना । द्वैत भावसे ॥ १४ ॥

जिसका सोऽहं भावका रोक । मोक्ष सुखार्थ बने जो रंक।
उनकी दृष्टिका है कलंक । लगेगा तेरे प्रेमको ॥ १५ ॥

इसका अहंभाव जायेगा । यदि यह मैं ही हो जायेगा।
मैं अकेला ही कैसा रहूंगा । सोचता है हरि ॥ १६ ॥

दृष्टिसे देख कर सुखी होना । या सुखसे मनसोक्त बोलना।
या प्रेमसे आलिंगन करना । किसको फिर ॥ १७ ॥

या अपने मनकी सुंदर । बात कहें किससे मधुर।
हुआ यदि यह धनुर्धर । मुझमें समरसैक्य ॥ १८ ॥

दयनीय भावसे जनार्दन । अन्योपदेश रूपसे ही मान।
बोलनेमें किया मनमोहन । आलिंगन पार्थका ॥ १९ ॥

सुननेमें यह किंचित्कठिण । फिर भी है यह स्पष्ट ही जान।
श्रीकृष्ण रूपकी मूर्ति अर्जुन । है ढली हुई ॥ १२० ॥

अर्जुनकी प्रशंसा—

जैसे ही आयूके अंतमें । पुत्रजन्म होता है बांझमें।
फिर वह मोहत्रयमें । नाचने लगती है ॥ २१ ॥

ऐसा हुआ है अनंत । यह मैं नहीं कहता।
यदि मैं नहीं देखता । प्रेमातिशय ॥ २२ ॥

देखो कैसा है यह अचरज । कहां उपदेश औ' कहां झुंज ।
परंतु यहां है प्रेमका भोज । नाचता जो ॥ २३ ॥

अजी ! लाज लज्जा है प्रेममें । तथा थकान है व्यसनमें ।
भ्रम नहीं जो पगलाईमें । यह होगा कैसे ॥ २४ ॥

इसका भावार्थ है ऐसा । पार्थ भक्तिका आश्रयसा ।
सुख श्रृंगारके मानस-सा । दर्पण रूपमें ॥ २५ ॥

ऐसा है यह पुण्य पवित्र । विश्वमें भक्ति बीज सुक्षेत्र ।
तभी है श्रीकृष्ण-कृपा पात्र । त्रिभुवनमें ॥ २६ ॥

आत्म निवेदनकी नींवका । आधार पीठ है जो सख्यका ।
पार्थ है अधिष्ठान उसका । मुख्य देवता ॥ २७ ॥

पास ही है प्रभु उसका वर्णन । छोड़ करते हैं भक्त-गुणगान ।
भाता है ऐसा स्वभावका अर्जुन । श्रीहरिको सहज ॥ २८ ॥

भजती जैसे पतिको प्रीतिसे । पाती मान्यता प्रीतिकी पतिसे ।
वर्णन ऐसी सतीका पतिसे । होना स्वाभाविक ॥ २९ ॥

अर्जुनका ऐसा गुणगान । चाहता विशेष मेरा मन ।
त्रिभुवनका भाग्य महान । पार्थमें बसता ॥ १३० ॥

जिसके प्रेमके कारण । निर्गुण हो आता सगुण ।
तथा सकल गुणपूर्ण । अनुभवता प्रेम-पीड़ा ॥ ३१ ॥

श्रोताओंकी ओरसे वक्ताका यशोगान—

कहते तब श्रोता हमारा भाग्य । कैसा बोलना यह सहज योग्य ।
शब्द शोभा आयी पाकर विजय । नाद-ब्रह्मपर ॥ ३२ ॥

आश्चर्यजी गगनमें देश-भाषाके । प्रकार प्रकटते साहित्य रंगके ।
खिल आयी हिंदी ऐसे अलंकारके । वैभवानंदमें ॥ ३३ ॥

छटकी है ज्ञान चांदनी कैसी । भावार्थ दे प्रिय शीतलतासी ।
खिली श्लोकार्थ कुमुदिनी ऐसी । सहज रूपसे ॥ ३४ ॥

चाह होती इससे निरिच्छोंमें । मन होता वचन सुननेमें ।
तथा डुलते हैं अंतरंगमें । ज्ञान प्रकाशसे ॥ ३५ ॥

ज्ञानेश्वर कृत कृष्ण वर्णन—

निवृत्तिदासने यह जाना । फिर कहा ध्यान सब देना ।
पांडव कुलमें कृष्ण दिन । हुआ उदय ॥ ३६ ॥

देवकीके उदरमें जन्म लिया । यशोदाने सायास पालन किया ।
पांडव कुलके वह काम आया । इस समय ॥ ३७ ॥

तभी सेवा करता बहु समय । अवसर देख करता विनय ।
पड़ा नहीं ऐसा प्रयास अवश्य । विषय जाननेमें ॥ ३८ ॥

अर्जुनकी उत्कट जिज्ञासा—

जाने दो कहते संत जन । विषय कहो सत्वर महान ।
सन्त लक्षण मुझमें अर्जुन । कहता नहीं है ॥ ३९ ॥

किया तो संत लक्षणका विचार । "अयोग्य मैं" निःसंदेह "यह सारा" ।
किंतु तेरा उपदेश सुनकर । बनूंगा अवश्य ॥ १४० ॥

यदि तू मन करेगा । तब मैं ब्रह्म बनूंगा ।
जो कहो अभ्यास करूंगा । निःसंदेह ॥ ४१ ॥

न जानता देव यह किसका बखान । सुनकर करे अंतःकरण स्तवन ।
इन लक्षणसे पूर्ण जो संत महान । कैसे होंगे जी ॥ ४२ ॥

यह लक्षण मुझमें क्या आयेगा । इतना तू मुझे अपना पायेगा ।
श्रीकृष्ण कहता "अवश्य ही होगा" । स्मित करके ॥ ४३ ॥

जब तक संतोष नहीं मिलता । सुखका सर्वत्र अभाव रहता ।
जब वह समाधान है मिलता । सुखाभाव कहाँ ॥ ४४ ॥

जो है सर्वेश्वरका सेवक । वह होगा ब्रह्म स कौतुक ।
हुआ है यह फलकारक । दैवयोगसे ॥ ४५ ॥

सहस्र जन्मोंमें इंद्रादिकके । मिलन नहीं होता जिसके ।
आधीन वह कितना पार्थके । कथनमें अधीर ॥ ४६ ॥

पार्थका यह कहना । मुझको है ब्रह्म होना ।
श्रीकृष्णने यह सुना । पूर्ण रूपसे ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्ण कहते तब अपनेमें । ब्रह्मत्वका दोहद हुआ इसमें ।
वैराग्य आया बुद्धिके उदरमें । बनके गर्भ ॥ ४८ ॥

किंतु दिन है अभी अपूर्ण । वैराग्य वसंतमें भरा पूर्ण ।
बौरा आया है भावका महान । सोऽहम्‌के ॥ ४९ ॥

प्राप्ति फल अब फलेगा । इसमें संशय न लगेगा ।
पूर्ण हुआ इसका विराग । जाना श्रीहरिने ॥ १५० ॥

अब यह जो कर्म करेगा । इसको प्रारंभमें फलेगा ।
इसीलिये कहा हुआ होगा । अभ्यास इससे ॥ ५१ ॥

ज्ञानेश्वरका पंथराज—

श्रीहरि ऐसा सोचकर । कहते हैं सु अवसर ।
अर्जुन सुन तू सत्वर । पंथराज ॥ ५२ ॥

जडमें वहां प्रवृत्ति वृक्षके । फल लगे करोडों निवृत्तिके ।
पथिक हैं जहां इस पथके । महेश भी ॥ ५३ ॥

योगी-वृंदके अनुभव परसे । उस सूक्ष्म-पथ पर चलनेसे ।
मूर्धन्य आकाश मार्ग इस कारणसे । हुआ सुलभ ॥ ५४ ॥

आत्म-बोधके सरल पथपर । गये सीधे वे सानंद दौडकर ।
अन्य सकल मार्ग छोड़कर । जो हैं अज्ञानके ॥ ५५ ॥

फिर ऐसे महर्षी आये । साधक थे सिद्ध भये ।
आत्मविद् हो महती पाये । इस पंथसे ॥ ५६ ॥

यह मार्ग जो देखता । भूख प्यास भी भूलता ।
रात दिन न जानता । चलनेमें यहां ॥ ५७ ॥

चलते चलते जहां पग पड़ता । वहां मोक्ष सुखका भांडार खुलता ।
कहीं यदि गलत पग भी पड़ता । वह है स्वर्ग सुखका ॥ ५८ ॥

पूर्वाभिमुख हो चलना । पश्चिमको जा पहुंचना ।
मनको स्थिर ही रखना । चलना यहां ॥ ५९ ॥

इस भांतिसे है जाना । गतव्य स्वयं हो जाना ।
इसे भला क्या कहना । जानेगा तू ॥ १६० ॥

"देव !" तब पार्थ कहता । "मुझे तू कब उभारता ।"
आर्त सागरमें डूबता । हूं इस समय ॥ ६१ ॥

श्रीकृष्ण तब ऐसा कहता । उतावला हो क्यों बोलता ।
अपने आप मैं हूँ कहता । तब तू क्यों पूछता वही ॥ ६२ ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।
नात्युच्छ्रितंनातिनीचंचैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥

योग साधनका स्थान ऐसा होना चाहिए—

अब जो मैं एक विशेष कहूंगा । अनुभवसे वह काम आयेगा ।
उसके लिये योग्य ऐसा लगेगा । स्थान एक ॥ ६३ ॥

जहां होता सहज समाधान । न रहता उठनेका भी भान ।
वैराग्य होता जहां बलवान । देखते वह ॥ ६४ ॥

वह हो संतोंका वसतिस्थान । संतोषका हो आवास महान ।
जहां हो चित सदा धैर्यवान । तथा उत्साही भी ॥ ६५ ॥

अभ्यास होता सहज जहां । अनुभव होता आप वहां ।
ऐसी रम्यता वसती वहां । अखंडित ॥ ६६ ॥

वहां जानेसे ही पार्थ । नास्तिकको मनोरथ ।
तपस्यामें हो सु-स्वस्थ । अंतःकरण ॥ ॥ ६७ ॥

सहज ही वहां जानेसे । सहसा बैठ जानेसे ।
करें न मन उठनेसे । सकामका भी ॥ ६८ ॥

करता वह घुमक्कडको भी स्थिर । आनेसे सहज उस स्थान पर ।
जागृत करता वैराग्य सत्वर । थपकियां देके ॥ ६९ ॥

पवित्र देखके स्थान लगाना स्थिर आसन ।
दर्भ चर्म तथा वस्त्र ऊंचा नीचा न हो वह ॥ ११ ॥

राज्य सुखका त्याग करना । ऐसा कहे विलासीका भी मन।
एकांतमें यहीं बैठा रहना । ऐसा ही लगे ॥ १७० ॥

स्थान वह ऐसा हो उत्तम । तथा अत्यंत पवित्रतम ।
प्रकटे अधिष्ठान परम । नयनोंमें वहां ॥ ७१ ॥

देखना औ' एक विशेष लक्षण । होना वहां साधक-वसति-स्थान ।
न होना जन संचार प्रचलन । अर्जुन वहां ॥ ७२ ॥

वहां अमृतके समान । पक्व फल वृक्ष अर्जुन ।
फलते रहे अनुदिन । सभी ओर ॥ ७३ ॥

पग पगमें बहे नीर । वर्षा ऋतुमें भी पवित्र ।
ऐसे जो सहज निर्झर । सुलभ हो वहां ॥ ७४ ॥

आतप भी हो कोमल । सौम्यता भासे शीतल ।
पवन अति निश्चल । मंदमंद हो ॥ ७५ ॥

अधिक तर हो निःशब्द । न करें आकुल श्वापद ।
शुक तथा न हो षट्पद । उस स्थानमें ॥ ७६ ॥

स्रोत समीप हो हंस । वैसे दो चार सारस ।
कूजन करें आस पास । कोयल कभी कभी ॥ ७७ ॥

किंतु जो निरंतर नहीं । आवे जावे कभी कहीं ।
मोरको अपनी ना नहीं । उस स्थानमें ॥ ७८ ॥

परंतु अवश्य ही अर्जुन । ऐसा ठाव खोजके रखना ।
वहां निगूढ़सा मठ होना । या शिवालय ॥ ७९ ॥

इन दोनोंमें एक । भाता है जो अधिक ।
एकांतमें अधिक । बैठा रहना ॥ १८० ॥

देखें कैसा है यह स्थान । स्थिर रहता है क्या मन ।
रहा तो लगाना आसन । इस भांति ॥ ८१ ॥

योग साधनामें आसन ऐसा होना चाहिये—

वहां शुद्ध मृगचर्म एक बिछाना । उसपे धौत वस्त्रकी तह डालना ।
उसके तलमें कोमलसे बिछाना । कुशांकुर ॥ ८२ ॥

होना है वे स-कोमल समान । एकसे सहज रखना जान।
रचना करें एकसी समान । भूमिपर ॥ ८३ ॥

थोड़ा भी यदि वह ऊंचा होगा । उससे शरीर अस्थिर होगा।
थोडासा यदि वह नीचा होगा । आयेगा भूमि दोष ॥ ८४ ॥

इसीलिये ऐसा न करना । आसन सम भावका होना।
ऐसा आसन तैयार करना । धनुर्धर ॥ ८५ ॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥

योग-साधनाका प्रारंभ ऐसा करना—

करना प्रारंभ अनुष्ठान । एकाग्र कर अंतःकरण ।
करके श्री गुरुका स्मरण । अनुभवसे ॥ ८६ ॥

ऐसे स्मरणके आदरसे । अहंकारके घुल जानेसे ।
भर जाता है सात्विकतासे । साधक वहां ॥ ८७ ॥

वासनाका विस्मरण होता । इंद्रियोंका चांचल्य मिटता ।
वैसेही तब स्थिरत्व आता । अंतःकरणमें ॥ ८८ ॥

संतुलन ऐसा स्वाभाविक । होने तक रुके क्षण एक ।
बैठो इस बोधमें क्षणिक । आसन पर ॥ ८९ ॥

अंग ही अंगको सचेत करता । जैसे पवनको पवन करता ।
वैसे अनुभवोंका उदय होता । ऐसे समय ॥ १९० ॥

प्रवृत्ति मुडती है पीछेको । समाधि उतरती आगेको ।
अभ्यास पहुंचे पूर्णताको । आसन पर ॥ ९१ ॥

मुद्राका महत्व है ऐसे । कहता हूँ उसीको कैसे ।
भिडाके रान औ' जांघसे । पलथी मारना ॥ ९२ ॥

करके मन एकाग्र रोक चित्तेंद्रिय क्रिया ।
करे आसन पे बैठ योजना आत्म-शुद्धिकी ॥ १२ ॥

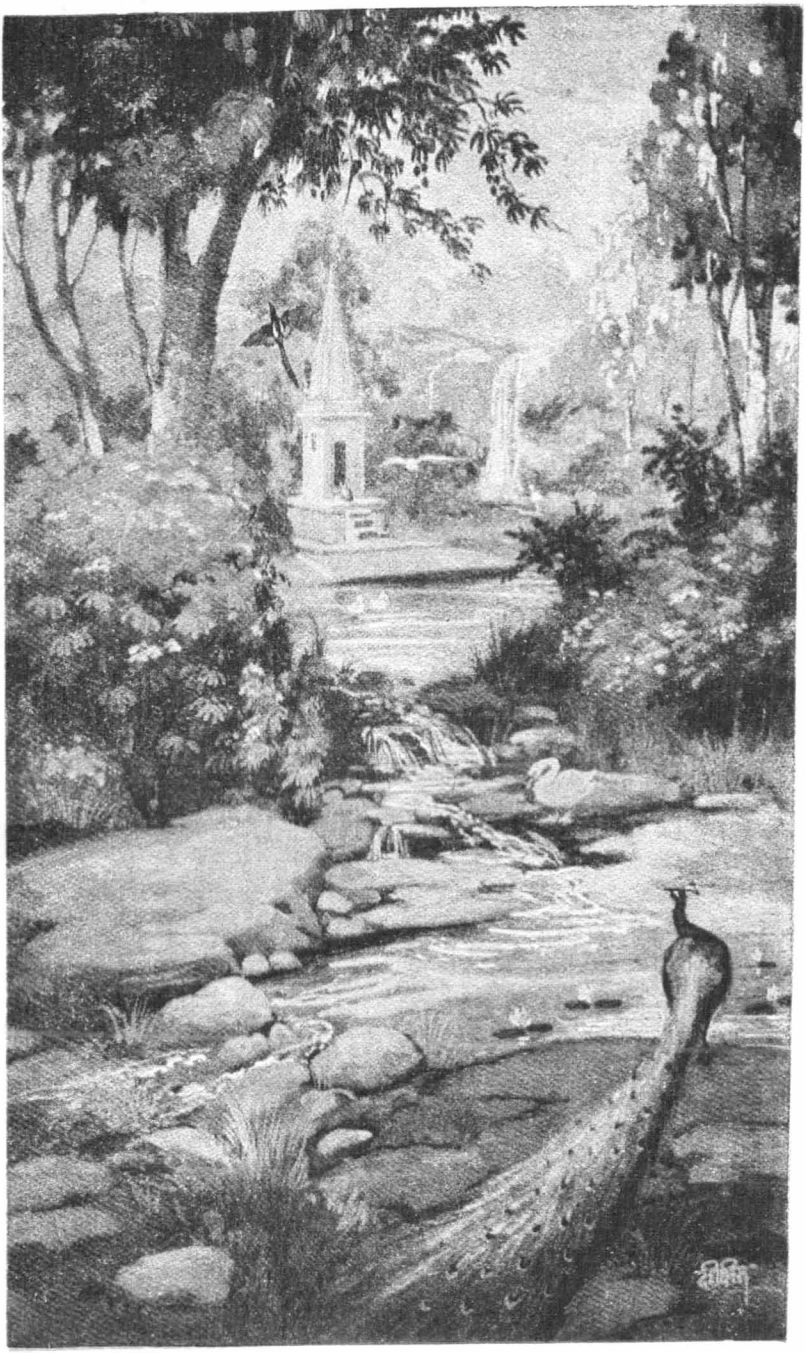

परंतु अवश्य ही अर्जुन । ऐसा ठाव खोजके रखना ।
वहीं निगूढसा मठ होना । या शिवालय ॥ ज्ञा. ६–१७९

चरण तलको मोड़कर । आधार चक्रके तल पर ।
रखना ऐसे ही सटाकर । सुस्थिर हो वैसे ॥ ९३ ॥

दहिनेको नीचे रखना । उससे सीवन दबाना ।
उसपे सहज रखना । वामपाद ॥ ९४ ॥

गुद औ' शिश्नके मध्यमें । चार अंगुलके स्थानमें ।
डेढ़ औ' डेढ़ अंगुलमें । छोड़ करके ॥ ९५ ॥

रहता है स्थान अंगुल एक । उसे एडीके उत्तराग्रसे देख ।
दबाकर अंग उस पर रख । तौल करके ॥ ९६ ॥

उठाया या नहीं यह जाने नहीं । उतना ही पृष्ठांश उठावो कहीं ।
उठावो गुल्फद्वय भी वैसे ही । उसी समय ॥ ९७ ॥

तब शरीरका ढांचा पार्थ । पूर्ण रूपसे सुन सर्वथा ।
होता ऐडीसे लेकर माथा- । तक स्वयंभू जैसे ॥ ९८ ॥

यह तू जान अर्जुन । मूलबंधका लक्षण ।
वज्रासन भी है गौण । इसका नाम ॥ ९९ ॥

ऐसा आधार मूल पड़ता । उतरनेका मार्ग ढूंढता ।
तब है उर्ध्व गतिको पकड़ता । संकुचित अपान ॥ २०० ॥

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

सहज कर संपुट । वाम चरणमें बैठ ।
बाहुमूल दीखें ऊठ । सहज रूपसे ॥ १ ॥

उभरे हुए भुज मूलमें । मस्तक रखना स्थिरतामें ।
किवाड जैसे नेत्र द्वारमें । चाहते लगने ॥ २ ॥

ऊपरके पलक मिटते । नीचेके पलक हैं फैलते ।
जिससे अर्धोन्मिलित होते । नेत्रद्वय ॥ ३ ॥

शरीर सम-रेखामें रखना स्थिर निश्चल ।
रख नासाग्रमें दृष्टि कभी न देखना कहीं ॥ १३ ॥

दृष्टि रहती अंतरमें । पैर रखे तो बाहरमें ।
बैठती है नासिकाग्रमें । स्थिर होके ॥ ४ ॥

दृष्टि रहती अंदर ही अंदर । आती नहीं वह हठसे बाहर ।
होती तभी अर्ध दृष्टि है स्थिर । नासिकाग्रमें ॥ ५ ॥

दिशाओंका दर्शन करना । रूप राशीकी राह देखना ।
मिटे दृष्टिकी लत संपूर्ण । अपने आपमें ॥ ६ ॥

होगा फिर कंठनाल संकुचित । चिबुक छूता कंठ अस्तिकागर्त ।
स्थिर होके फिर दबाती सतत । वक्ष स्थलमें ॥ ७ ॥

होता फिर कंठमणि लोप । उसपे हो बंधका आरोप ।
कहलाता जालंदर आप । पांडुकुमार ॥ ८ ॥

होता है जो नाभी पर पृष्ठ । उदर हो अंदर आकृष्ट ।
अंतरंगमें खिलता कोष्ठ । हृदय-कोषका ॥ ९ ॥

स्वाधिष्ठानके उत्तराग्रसे । नाभिस्थानके अधोभागसे ।
बढ़ता बंध जिस नामसे । वह उड्डियान ॥ २१० ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

इस योग-साधनका, विस्तार,परिणाम,अनुभव,—

ऐसे शरीरके बाहर । पड़ा अभ्यासका पाखर ।
मनका चांचल्य भीतर । धीमा पडता ॥ ११ ॥

कल्पना है मिटती । प्रवृत्ति भी घटती ।
तन-मनको शांति । मिलती आप ॥ १२ ॥

क्षुधा गयी है कहां । निद्रा रहती कहां ।
न है स्मरण यहां । मनमें भी ॥ १३ ॥

शांत निर्भय मच्चित्त व्रतस्थ ब्रह्मचर्यमें ।
साधके मनको नित्य मुझमें ही लगा रहे ॥ १४ ॥

मूलबंधमें रहा हुआ अपान । ऊर्ध्व आया पाकरके आकुंचन ।
पा करके अध ऊर्ध्व आकुंचन । फूल उठता वह ॥ १४ ॥

क्षुभित हो खौलके उन्मत्त । घेरेमें गरजता सतत ।
मणिपूरकको करे आघात । रह रह कर ॥ १५ ॥

फिर वह अपानका बवंडर । शोधन करता संपूर्ण शरीर ।
बालपनका सडा गला जहर । बाहर करता ॥ १६ ॥

अंदर कहीं नहीं मुड सकता । फिर उदरमें संचार करता ।
वहां वह नाम भी नहीं रखता । कफ पित्तका ॥ १७ ॥

धातूके सागर उलटाता । मेदके पर्वतोंको तोडता ।
अंदरकी मज्जा निचोडता । अस्तिगत भी ॥ १८ ॥

नसोंको खुला करता । गात्रोंको ढीला करता ।
साधकको भी डराता । डरना नहीं ॥ १९ ॥

रोगोंको उठाकर दिखाता । किंतु उनको मिटा भी देता ।
आप औ' पृथ्वीको सान देता । एक जीव-सा ॥ २२० ॥

एक ओर जब यह होता । वहां जो आसनकी उष्णता ।
करती है शक्तिको जागृत । कुंडलिनीकी ॥ २१ ॥

नागका पिल्ला हो जैसे । स्नान कर कुंकुमसे ।
मुडकर आया जैसे । सेज पर ॥ २२ ॥

ऐसी वह कुंडलिनी । साडेतीन घुमावनी ।
अधोमुख सर्पिनी । सोती रहती जो ॥ २३ ॥

जागृत कुंडलिनी शक्तिका कार्य विवेचन--

कडी जैसी वह विद्युल्लताकी । तह जैसी अग्निकी ज्वालाओंकी !
सांखलसी चमकीली स्वर्णकी । रहती है पार्थ ॥ २४ ॥

सुव्यवस्थित जो सिकुडी हुई । संकुचित स्थानमें सोई हुई ।
वज्रासनके चिमटेमें फंसी हुई । होती है सावध ॥ २५ ॥

गिरा वहां मानो नक्षत्र टूटकर । या आया स्थानच्युत हो स्वयं भास्कर ।
अथवा तेज बीजमें फूटा अंकुर । प्रकाश रूप ॥ २६ ॥

अपने कुंडल खोलकर । लीलासे ही अंग मोडकर ।
कुंडलिनी नाभिकंद पर । टूट पडती ॥ २७ ॥

बहुत दिनकी रहती भूखी । छेडनेसे होती है अति तीखी ।
आवेशसे होकर ऊर्ध्वमुखी । उठती है जो ॥ २८ ॥

वहां हृदय-कोशके निम्न । भागमें रहता जो पवन ।
उसे पकडकर अर्जुन । निगलती वह ॥ २९ ॥

अर्जुन ! मुखकी ज्वालाओंसे । निगलती ऊपर नीचेसे ।
मांस खंड संपूर्ण-रूपसे । शरीरके ॥ २३० ॥

जो जो स्थान हैं समांस । वहांका भरती ग्रास ।
लेती है दो चार ग्रास । हृदयका भी ॥ ३१ ॥

करती फिर तलुओंका शोधन । तथा ऊर्ध्व खंडका भी है भेदन ।
चाटती अंगका प्रत्येक स्थान । वह धनंजय ॥ ३२ ॥

न छोडे अपना आश्रय । नामका भी रक्त संचय ।
रखे शुद्ध चर्मवलय । अस्थिपंजरपे ॥ ३३ ॥

अस्थि-नलियोंको सोखती । शिराओंको भी चूस लेती ।
बाह्य वृद्धिको जलादेती । रोमकूपके ॥ ३४ ॥

सप्त-धातुके जो सागर । प्यारसे घोंट भर कर ।
रखती सब सुखाकर । ग्रीष्म कालसा ॥ ३५ ॥

नासापुटिका जो श्वास । जाता अंगुल द्वादश ।
बीचमें धर अशेष । खींचती भीतर ॥ ३६ ॥

अधो-भागसे होता तब आकुंचित । ऊर्ध्व-भागसे होता खींचाव सतत ।
उस भेंटमें केवल चक्रके दांत । रहते बचकर ॥ ३७ ॥

ऐसे होता इन दोनोंका मिलन । किंतु मध्य कुंडलिनी क्षोभ पूर्ण ।
पूछती है उनसे "तुम हो कौन ? । चलो यहां से" ॥ ३८ ॥

पार्थिव धातु वह अशेष । निगलती वह रख शेष ।
आपको भी वैसे ही अशेष । पी जाती है ॥ ३९ ॥

दोनों भूतोंको निगल कर । देती है जो तृप्तिकी डकार ।
तब वह संतुष्ट होकर । रहती सुषुम्नाके पास ॥ २४० ॥

तब वह तृप्तिके तोषसे । गरल उगलती मुखसे ।
उस गरलके अमृतसे । जीता प्राण ॥ ४१ ॥

उस अग्निसे निकलता अमृत । करता वह अंतर बाह्य शांत ।
खिलते तब सब गात्र गलित । अर्जुन उसके ॥ ४२ ॥

रुकते हैं नाडिके स्रोत । नव विध वायुका द्वैत ।
मिटता और होता मुक्त । शरीर-धर्मसे ॥ ४३ ॥

इडा पिंगला एक होती । तीनो गांठे जो छूट जाती ।
छही झल्लियां टूट जाती । षट्चक्रोंकी ॥ ४४ ॥

अजी ! फिर शशि और भानु । ऐसी कल्पनाका अनुमान ।
कपास रखके भी पवन । दीखता नहीं ॥ ४५ ॥

बुध्दिका आकार तब गलता । परिमल जो घ्राणमें रहता ।
शक्ति सह वह है संचरता । मध्यमामें ॥ ४६ ॥

ढलता उपरकी ओर । चंद्रामृतका सरोवर ।
जाता जो बहकर फिर । शक्ति मुखमें ॥ ४७ ॥

उस शक्तिसे रस भरता । सर्वांगमें वह संचरता ।
जहांका वहां सगबगाता । प्राण पवन ॥ ४८ ॥

तपे हुए ढांचेमेंसे । मूम निकलता जैसे ।
भरती रससे वैसे । ढले हुए ॥ ४९ ॥

तब शरीरके आकारसे । विद्युल्लता उतरी है जैसे ।
ऊपर त्वचा आच्छादनसे । ढकी है जो ॥ २५० ॥

रविपर पडता मेघावरण । लिपते हैं तब प्रकाश किरण ।
फटता है फिर वह आवरण । न रुकता प्रकाश ॥ ५१ ॥

वैसा ही शुष्क है ऊपर । त्वचावरण तन पर ।
झडे जैसा वह चोकर । तन परसे ॥ ५२ ॥

चमकता वह फिर जैसे बिल्लोर । या रत्न बीजमें उग आया अंकुर ।
वैसे अवयव कांति शोभा अपार । होती प्रस्फुटित ॥ ५३ ॥

अथवा संध्या-रागके रंग । लेकरके बनाया है अंग ।
अथवा स्वयंभू ज्योतिर्लिंग । आत्माका जो ॥ ५४ ॥

या केशरसे भरा हुआ । सिद्ध रससे ढला हुआ ।
मूर्ति रूप उतरा हुआ । शांत-ब्रह्म ॥ ५५ ॥

अथवा आनंद त्रयका लेप । या महा सुखका प्रत्यक्ष रूप ।
या मानो संतोष-तरुका रोप । अति कोमल ॥ ५६ ॥

माना कनक-चंपककी कली । या अमृतसे ढली है पुतली ।
या वह कोमलता ही है खिली । अति कोमल हो ॥ ५७ ॥

ओससे शरदऋतुकी । प्रफुल्लता चंद्र-बिंबकी ।
या मूर्ति बैठी तेजकी । आसन पर ॥ ५८ ॥

योगीकी काया तब ऐसी बनती । कुंडलिनी जब चंद्रामृत पीती ।
देख डरता छूने वह देहाकृति । कृतांत भी तब ॥ ५९ ॥

बुढापा तब पीछे हठता । तारुण्यका भी वियोग होता ।
बीता हुआ बालपन आता । योगीका पार्थ ॥ २६० ॥

वयमें देखे तो वह इतनासा । कार्य उसका ब्रह्म पुरुषका-सा ।
धैर्यमें मानो मेरु पर्वत जैसा । होता निरुपम ॥ ६१ ॥

अंकुर ही है कनकद्रुमका । नित्य नूतन रत्नकी कलिका ।
वैसी ही उसकी नखाकृतिका । होता नवदर्शन ॥ ६२ ॥

उसके दांत भी नये उगते । किंतु वे अतिशय नन्हे होते ।
हीरेके कणसे वे चमकते । दुपंक्तियोंमें ॥ ६३ ॥

जैसे माणिकके कण । वे भी हो अणुसमान ।
आते हैं सर्वांगपूर्ण । रोमाग्र जो ॥ ६४ ॥

कर चरण तल । मानो हैं रातोत्पल ।
नयन जो निर्मल । कहूं कैसे ॥ ६५ ॥

मुक्ताके संपूर्ण खिल जानेसे । समेट न सकती शुक्ता उसे ।
खुल जाता है फिर बंध जैसे । शुक्ति पल्लवोंका ॥ ६६ ॥

वैसे पलक पल्लवमें न समानेसे । दृष्टिके सर्वव्याप्त हो निकलनेसे ।
लिपट जाती है फिर गगनसे । जो पहले थी ॥ ६७ ॥

तन होता तब कंचनका । हलकापन आता वायुका ।
न होता अंश आप-पृथ्विका । अर्जुन वहां ॥ ६८ ॥

वह फिर सागर पारका देखता । स्वर्ग लोकका भी विचार सुनता।
चींटीका मनोगत भी है जान लेता । सहज भावसे ॥ ६९ ॥

पवनाश्वपर भी चढता । उदक पर वह चलता ।
ऐसी सिध्दियां प्राप्त करता । प्रसंग रूप ॥ २७० ॥

जो प्राणका हाथ पकडकर । गगनकी सीढियां बनाकर ।
सुषुम्नाका जीना चढकर । आयी हृदयमें ॥ ७१ ॥

वह कुंडलिनी जगदंबा । चैतन्य चक्रवर्तीकी शोभा ।
उसने विश्व बीजका कोंब । छायामें लिया ॥ ७२ ॥

आकार वह शून्य लिंगका । आवरण है परमात्माका ।
आसरा है जो खुला प्राणका । जन्मभूमिसा ॥ ७३ ॥

ऐसी जो वह कुंडलिनी । हुई है हृदय-वासिनी ।
तब अनाहतकी ध्वनी । करती है ॥ ७४ ॥

शक्तिके तनमें चिपकनेसे । बुध्दिमें चैतन्य आया है जैसे ।
उसने ध्वनी सुनी है हौलेसे । अनाहतकी ॥ ७५ ॥

पोखरमें उस नादके । रुप दीखे नाद चित्रके ।
प्रणव रूप आकारके । रेखा लेखन ॥ ७६ ॥

करनेसे इसकी कल्पना । कल्पनासे इसको जानना ।
किंतु कल्पनाका मन लाना । कहांसे अब ॥ ७७ ॥

भूल गया मैं अर्जुन । नाश न होता पवन ।
जिससे है "ख" गगन । गूंजाता वह ॥ ७८ ॥

अनाहतकी उस घन गर्जनासे । गूंज उठता है हृदयाकाश जैसे ।
ब्रह्म-स्थानके महाद्वार हैं उससे । खुलते हैं सहज ॥ ७९ ॥

वहां कमल गर्भाकार अर्जुन । महदाकाश रहता अन्य जान ।
वहां रहता कर अर्ध भोजन । अतृप्त चैतन्य ॥ १८० ॥

सदनमें उस हृदयाकाशके । वास कुंडलिनी-परमेश्वरीके ।
अर्पण करती अपने तेजके । कौर चैतन्यको ॥ ८१ ॥

शाक सह वह बुध्दिके । देकर कौर हाथके ।
द्वैतको न देख सके । ऐसा करती ॥ ८२ ॥

ऐसी निज-कांतिको खोकर । केवल प्राण रूप होकर ।
ऐसी देखती है धनुर्धर । कहूंगा अब ॥ ८३ ॥

कोई पुतली ही हो पवनकी । अपनी आढेनी स्वर्णावरकी ।
उतार कर रखी हो निजकी । अलग करके ॥ ८४ ॥

अथवा लहरसे वायुकी । मिटी हो अभी ज्योत दीपकी ।
चमक लहर बिजलीकी । अस्त हुई गगनमें ॥ ८५ ॥

अथवा हृदय-कमल पर्यंत । गया मानो प्रकाश-जलका झोत ।
अथवा स्वर्णधार आदिसे अंत । बहती हुई ॥ ८६ ॥

फिर वह हृदयाकाशमें । समायी हो एक रूपमें ।
जैसे शक्ति शक्तिके रूपमें । समायी जाती ॥ ८७ ॥

तभी वह शक्ति ही कहलाता । केवल प्राण वायु जो रहता ।
नाद बिंदु अब नहीं जानता । कला औ" ज्योति ॥ ८८ ॥

करना मनका निरोध । तथा प्राणका अवरोध ।
ध्यानकी न रहती साध । तब अर्जुन ॥ ८९ ॥

कल्पनाका त्याग-भोग । न रहता अनुराग ।
महा-भूतोंका सुराग । रहता नहीं ॥ २९० ॥

पिंडसे करना पिंडका ग्रास । यह है नाथ-संकेत सारांश ।
कह गया यह महोपदेश । महाविष्णु ॥ ९१ ॥

रहस्यका बांध ढा कर । यथार्थका तह खोलकर ।
रखी सन्मुख मैंने सादर । ग्राहक श्रोतोंके ॥ ९२ ॥

युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियत मानसः ।
शांतिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥

शक्तिका जब तेज लोपता । देहका तब रूप मिटता ।
फिर आंखोंमें ही छिप जाता । विश्वकी वह ॥ ९३ ॥

ऐसे मगन आत्मामें होता योगी मनो-जयी ।
मोक्षसे जो भिडी शांति पाता हो मुझमें रत ॥ १५ ॥

नहीं तो प्रभुने कहा जैसे । अपनेसे नहीं होता वैसे ।
बनता जो निज योग्यतासे । पूछते वही हम ॥ ३५ ॥

अंतरंगका यह धारणा । पूछनेका यही कारण ।
देना प्रभु इस पर ध्यान । स्वस्थ चित्तसे ॥ ३६ ॥

अजी तुमने यह सुना ? । तुमने जो कही साधना ।
चाहे जिसने अनुष्ठान । किया तो चलेगा क्या ? ॥ ३७ ॥

या योग्यता बिना नहीं । ऐसा भी कछु है कहीं ।
ऐसा कभी हुआ कहीं । पूछता हूं कृष्ण ॥ ३८ ॥

श्रेष्ठ काज यह महा-निर्वाण । इसे छोड़ जो होते साधारण ।
वह भी होते योग्यता कारण । जगतमें सिद्ध ॥ ३९ ॥

योग्यता जो कहलाती । प्रकृतिके आधीन होती ।
योग्य हो कर की जाती । फलती प्रारंभमें ॥ ३४० ॥

वैसी है जो योग्यता । न मिले हाटमें तथा ।
योग्योंकी खान सर्वथा । होती नहीं ॥ ४१ ॥

किंतु होता जो अल्पसा विरक्त । तथा देह-धर्ममें जो संयत ।
ऐसा साधक है जो व्यवस्थित । अधिकारी है ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्ण द्वारा इंद्रिय निग्रहका निरूपण—

इस युक्तिसे योग्यता । पायेगा तू सुन पार्थ ।
ऐसी जो असुविधता । दूर की उसकी ॥ ४३ ॥

फिर कहे वह पार्थ । है यह ऐसी व्यवस्था ।
अनियतको सर्वथा । योग्यता नहीं ॥ ४४ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

न योग अधिक खाके तथा भोजन छोडके ।
वैसे ही अति निद्रासे या मात्र जगते हुये ॥ १६ ॥

वैसे तन रूपसे रहा द्वैत । त्यज शक्ति-शिव शिवमें रत ।
वह एकत्व अपनेमें नित । आप ही आप ॥ ८ ॥

रहा था क्या कभी द्वैत । या स्वयंसिद्ध अद्वैत ।
विचारमें भी यह बात । आती ही नहीं ॥ ९ ॥

लय हुआ गगनमें गगन । अनुभव करता है चिंतन ।
प्रत्यय जिसका उसे महान । बोध है यह ॥ ३१० ॥

इससे उस स्थितिका वर्णन । शब्दसे न हो सकता कथन ।
जब शब्दमें उलझता मन । होता है संवाद ॥ ११ ॥

करनेसे है सहज विचार । कथनका कहती अधिकार ।
रही भाषा वैखरी अति दूर । इस स्थितिसे ॥ १२ ॥

भ्रू-लताकी पिछली ओर । न धरता रूप मकार ।
प्रवेशमें कष्ट होते घोर । प्राणको भी ॥ १३ ॥

गगनमें होता प्राण प्रवेश । न रहता शब्दका अवशेष ।
उसमें भी लय होता आकाश । महाशून्यमें ॥ १४ ॥

कहां महासागर महाशून्यका । उसमें न लगे ठाव आकाशका ।
वहां कैसे शब्द-नांवके डांडका । लगे सुराग ॥ १५ ॥

तब यह कहना शब्दसे । तथा सुनना भी जो कानसे ।
असंभव है जान तू इसे । पांडुकुमार ॥ १६ ॥

जब कभी दैवयोगसे । सानुभव पाना है इसे ।
आपमें समरसैक्यसे । आप हो रहना ॥ १७ ॥

हुआ है जो उसमें ही एक । कहना क्या उसका अधिक ।
कहना वही एक ही एक । व्यर्थका ही ॥ १८ ॥

शब्दमात्र है पीछे हठता । संकल्पका नाम न रहता ।
वायु भी नहीं भी तर आता । विचारका वहां ॥ १९ ॥

वह है उन्मनीका लावण्य । तथा है तुर्याका सु-तारुण्य ।
अनादि और जो है अगण्य । परम-तत्व ॥ ३२० ॥

आकारका जो प्रांत । मोक्षका जो एकांत ।
जहां आदि औ' अंत । हुए विलीन ॥ २१ ॥

विश्वका है जो मूल । योगद्रुमका फल ।
आनंदका केवल । चैतन्य ही है ॥ २२ ॥

महाभूतका जो बीज । महातेजका जो तेज ।
एवं अर्जुन है निज- । रूप मेरा ॥ २३ ॥

यह है जो चतुर्भुज साकार । लिया उसकी शोभाने आकार ।
नास्तिकोंसे परास्त देखकर । भक्तवृंद ॥ २४ ॥

वह अनिर्वचनीय महासुख । बनते हैं वे स्वयं महापुरुष ।
टिके रहते हैं जिनके निष्कर्ष । अंतिम-सिद्धि तक ॥ २५ ॥

हमने कहा जो अब साधन । जिसने किया तन मूर्तिमान ।
हुआ है वह हमारे समान । निश्चित रूपसे ॥ २६ ॥

अर्जुनका संदेह—

पर-ब्रह्मके रससे । ढला शरीर सांचेसे ।
दीखते हैं सारे ऐसे । अंगांग ॥ २७ ॥

अंतरंगमें अनुभावका प्रकाश । जिससे लुप्त होता है जगदाभास ।
अर्जुन कहता सच है यह भाष । तब श्रीकृष्णसे ॥ २८ ॥

आपने कहा जो साधन । ब्रह्म प्राप्तिका वह स्थान ।
इससे होगा समाधान । निश्चय ही ॥ २९ ॥

होते जो अभ्यासमें दृढ-चित्त । वही पाते हैं ब्रह्मत्व निश्चित ।
कथनका है यह मतितार्थ । जाना आपका ॥ ३० ॥

सुनकर है यह बात । बोध लेता है यह चित्त ।
अनुभूतिसे अनुरक्त । कैसे न होगा ॥ ३१ ॥

इसीलिये यहां कहीं । अन्यथा कुछ भी नहीं ।
थोडासा चित दे यही । मेरी बातमें ॥ ३२ ॥

अब जो योग कहा तुमने । स्वीकार किया मेरे मनने ।
योग्यता हीनत्वसे अपने । आचरण नहीं होता ॥ ३३ ॥

योग्यता है जो मेरी सहज । उससे सिद्ध हो योगी राज ।
तब मैं सुखसे करूँ आज । अभ्यास इसका ॥ ३४ ॥

नहीं तो प्रभुने कहा जैसे । अपनेसे नहीं होता वैसे ।
बनता जो निज योग्यतासे । पूछते वही हम ॥ ३५ ॥

अंतरंगका यह धारणा । पूछनेका यही कारण ।
देना प्रभु इस पर ध्यान । स्वस्थ चित्तसे ॥ ३६ ॥

अजी तुमने यह सुना ? । तुमने जो कही साधना ।
चाहे जिसने अनुष्ठान । किया तो चलेगा क्या ? ॥ ३७ ॥

या योग्यता बिना नहीं । ऐसा भी कछु है कहीं ।
ऐसा कभी हुआ कहीं । पूछता हूं कृष्ण ॥ ३८ ॥

श्रेष्ठ काज यह महा-निर्वाण । इसे छोड़ जो होते साधारण ।
वह भी होते योग्यता कारण । जगतमें सिद्ध ॥ ३९ ॥

योग्यता जो कहलाती । प्रकृतिके आधीन होती ।
योग्य हो कर की जाती । फलती प्रारंभमें ॥ ३४० ॥

वैसी है जो योग्यता । न मिले हाठमें तथा ।
योग्योंकी खान सर्वथा । होती नहीं ॥ ४१ ॥

किंतु होता जो अल्पसा विरक्त । तथा देह-धर्ममें जो संयत ।
ऐसा साधक है जो व्यवस्थित । अधिकारी है ॥ ४२ ॥

श्रीकृष्ण द्वारा इंद्रिय निग्रहका निरूपण—

इस युक्तिसे योग्यता । पायेगा तू सुन पार्थ ।
ऐसी जो असुविधता । दूर की उसकी ॥ ४३ ॥

फिर कहे वह पार्थ । है यह ऐसी व्यवस्था ।
अनियतको सर्वथा । योग्यता नहीं ॥ ४४ ॥

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥ १६ ॥

न योग अधिक खाके तथा भोजन छोडके ।
वैसे ही अति निद्रासे या मात्र जगते हुये ॥ १६ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥

रसनेंद्रियका जो अंकित होता । निद्राको जो अपने प्राण बेचता ।
योगमें वह नहीं है कहलाता । अधिकारी कभी ॥ ४५ ॥

या आग्रह वश होकर । भूख-प्यासको रोककर ।
या आहारको तोड़कर । करता दमन ॥ ४६ ॥

तथा निद्रासे विमुख होकर । दुराग्रहसे उन्मत्त होकर ।
शरीरका अधिकार खोकर । योग हो कैसे ॥ ४७ ॥

विषय सेवनकी तीव्र आस । विरोधका यह भाव है त्रास ।
तथा पूर्ण विरोध स आवेश । यह भी न करना ॥ ४८ ॥

अन्नका सेवन करना । हित मित युक्त ही खाना ।
वैसे क्रियाचरण करना । नियमित ॥ ४९ ॥

संयत वचन बोलना । नियमित डग भरना ।
निद्राका सन्मान करना । यथोचित ॥ ३५० ॥

करना है यदि जागरण । उसका भी होना परिमाण ।
जिससे हो धातु नियमन । अनायास ॥ ५१ ॥

देना ऐसे युक्तियुक्त । इंद्रियोंको जो वांछित ।
रहता इससे चित्त । सदा संतुष्ट ॥ ५२ ॥

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

खाना औ' जगना सोना फिरना अन्य कार्य भी ।
इसे जो करता योग्य योग है दुःख नाशक ॥ १७ ॥

आत्मामें लीन होता है पूर्ण संयत चित्त जो ।
होती है वासना शांत योगी तोभु क्त जान तू ॥ १८ ॥

बाहर जब युक्ति सधती । अंतरमें सुख - वृद्धि होती ।
ऐसी योग - सिद्धि बढ़ती । अनायास ॥ ५३ ॥

जैसा भाग्यका उदय होता । उद्यमका निमित्त मिलता ।
ऐश्वर्य सर्वस्व घर आता । अपने आप ॥ ५४ ॥

युक्तियुक्त सदा लिलासे । अभ्यासकी चालढालसे ।
खिलता है आत्म - सिद्धिसे । उसका अनुभव ॥ ५५ ॥

रहता है जो युक्तियुक्त । होता है सदा भाग्यवंत ।
जिससे होता अलंकृत । मुक्त भावसे ॥ ५६ ॥

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥

होता जहां युक्ति-योगका मिलन । वहां है प्रयागका संगमस्थान ।
क्षेत्र संन्यास लेकरके मन । बसता है वहां ॥ ५७ ॥

उसको योग-युक्त करना । प्रसंगसे यह भी जानना ।
दीप-ज्योतिकी यह तुलना । निर्वात - स्थलकी ॥ ५८ ॥

इस अभ्याससे मन निश्चल बनता है—

अब तेरा मन जान कर । कहते हम पांडुकुमार ।
सुन तू वह चित्त देकर । बात जो भली ॥ ५९ ॥

जब तू उसे पाना चाहता । किंतु अभ्यासमें दक्ष न होता ।
तब कठिनाईसे क्यों डरता । इसकी भला ॥ ३६० ॥

अर्जुन यहां कष्ट नहीं जान । करता यह ग्रह यदि मन ।
हौवा बनाती इंद्रियां दुर्जन । व्यर्थ ही इसका ॥ ६१ ॥

आयूको जो स्थिर करती । जीवनको भी लौटा लाती ।
उसे नहीं क्या शत्रु मानती । रसनेंद्रिय ॥ ६२ ॥

निर्वात स्थलमें जैसे जलता दीप निश्चल ।
आत्मान्वेषक योगीके चित्तकी उपमा कही ॥ १९ ॥

ऐसा जो कुछ भी है हितका। रहा है इंद्रियोंके दुखका ।
ऐसे नहीं योगके सरीखा । सरल कछु ॥ ६३ ॥

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवाऽत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥

तभी आसनकी दृढ़तासे । कहा सभी अभ्यास तुझसे ।
हुआ तो हो निरोध इससे । इंद्रियोंका ॥ ६४ ॥

अन्यथा जब इस योगसे । इंद्रियोंका निग्रह होनेसे ।
निकलता चित्त अपनेसे । मिलन हेतु ॥ ६५ ॥

जब वह विषयोंसे निवृत्त होता । अपनेमें अपनेको ही है देखता ।
पहचान करके तब है कहता। सोऽहम् ब्रह्म ॥ ६६ ॥

इसी पहचानमें । सुखके साम्राज्यमें ।
चित्त समरसमें । विलीन होता ॥ ६७ ॥

इससे भिन्न कुछ भी नहीं । इसे इंद्रियां जानती नहीं ।
वह अपनेमें आप वहीं । बन जाता मन ॥ ६८ ॥

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥ २२ ॥

अवरुद्ध चित्तका है संचार मिटता सब ।
आत्मासे मिलके आत्मा तोषता निजमें स्वयं ॥ २० ॥

भोगके इंद्रियातीत बुद्धि-गम्य महा-सुख ।
डिगे नहीं जहां जाके तत्वज्ञ लेश-मात्र भी ॥ २१ ॥

न माने अन्य जो लाभ श्रेष्ठ है इस लाभसे ।
दुःखके भारसे भारी न कांपे रहके वहां ॥ २२ ॥

इस निश्चलताके सम्मुख दुःख नहीं रहता —

फिर मेरुसे भी बहुत । यातनाके बडे पर्वत।
पडनेपर भी चित्त । टूटता नहीं ॥ ६९ ॥

या शस्त्रसे तोडा तन । अग्निमें जला बदन।
चित्त है सुखमें लीन । अविचल ॥ ३७० ॥

अपनेमें होकर रत । भूल जाता देहको चित्त।
सुखरूप होके सतत । रहता अपनेमें ॥ ७१ ॥

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥

उस सुखमें होकर लीन । भूलता विषय-सुख मन।
संसार सुखमें अनुदिन । उलझाया जो ॥ ७२ ॥

वह है योगिका सौभाग्य । स्वसंतोषका है सम्राज्य।
ज्ञान भानका है उद्देश्य । पांडुकुमार ॥ ७३ ॥

योगाभ्याससे वह सतत । देखना पडता मूर्तिमंत।
देखनेसे बनता स्वगत । एकरूप ॥ ७४ ॥

संकल्प प्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥

जो वास्तविक हितका है वह इंद्रियोंको दुःखदायक लगता है—

किंतु यह योग अर्जुन । एक ढंगसे आसान।
संकल्पको दिखाता महान । पुत्रशोक ॥ ७५ ॥

उसको कहते योग दुःखका जो वियोग है ।
दृढ निश्चयसे पाना वह योग उमंगसे ॥ २३ ॥

संकल्पजन्य जो काम तजके पूर्ण रूपसे ।
मनसे ही इंद्रियोंको विषयोंसे निकालना ॥ २४ ॥

सुनकर हुवा वासनाका अंत। इंद्रियोंको देख नियममें स्थित।
शोक विव्हल होकर होगा मृत। अपने आप ॥ ७६ ॥

यदि वैराग्यने यह किया । संकल्पका झमेला ही गया।
धृति घरमें बुद्धि निर्भय । रहेगी सुखसे ॥ ७७ ॥

शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरं ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥

जब हो धृति-धीरा वसति स्थान । अनुभव पथसे चलके मन।
कर लेता अपना प्रतिष्ठापन । आत्म-भुवनमें ॥ ७८ ॥

होती है इस भांति । आत्म-तत्वकी प्राप्ति ।
यह भी असाध्य होती । सुनो अन्य मार्ग ॥ ७९ ॥

करेगा जो एक नियम निश्चित । उसकी सीमामें ही रहो सतत।
तन मनसे उसकी आज्ञा रत । रहना निष्ठासे ॥ ३८० ॥

इससे हुआ यदि स्थिर-चित्त । माना सहज हुआ कार्य कृतार्थ।
नहीं तो छोड देना चित्तको मुक्त । अपने मार्गसे ॥ ८१ ॥

फिर चित्त जहां जायेगा । वहांसे नियम लायेगा।
इससे स्थैर्यका बनेगा । अभ्यास उसको ॥ ८२ ॥

प्रशांत मनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥

होना शनै शनै शांत बुद्धिसे धैर्य-पूर्वक ।
आत्माको मनमें रोप न करें अन्य चिंतन ॥ २५ ॥

फूटे जहां जहांसे तो मन चंचल अस्थिर ।
वहांसे घरके लाना आत्मामें करना स्थिर ॥ २६ ॥

प्रशांत मन निष्पाप ब्रह्म-रूप बना हुवा ।
विकार शांत योगी जो पाता है सुख उत्तम ॥ २७ ॥

फिर कुछ कालान्तरसे । उस स्थैर्यके कारणसे ।
पास आयेगा सहजसे । आत्म-स्वरूपके ॥ ८३ ॥

उसे देख मन होता तद्वत । फिर डूबेगा अद्वैतमें द्वैत ।
होगा ऐक्य तेजसे प्रकाशित । त्रिभुवन सारा ॥ ८४ ॥

दीखते जो गगनमें भिन्न । होते वे भेद जब विलीन ।
तब भरा रहता गगन । त्रिलोकमें जैसा ॥ ८५ ॥

चित्तका जब ऐसा लय होता । तब मात्र चैतन्य ही रहता ।
ऐसी सुलभतासे प्राप्त होता । महासुख ॥ ८६ ॥

युञ्जन्वेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

सर्वत्र परमात्म दर्शनका सहज मार्ग--

ऐसी सुगम योग-स्थितिका । अनुभव है बहुत जनका ।
संकल्पकी सब संपत्तिका । करके त्याग ॥ ८७ ॥

सब वे अनायाससे ऐसे । विलीन हुए पर-ब्रह्मसे ।
होता जैसे लवण पानीसे । अभिन्न रूप ॥ ८८ ॥

मिलन होता है इस रूपमें । समरसके महा-सदनमें ।
दीखता है तब त्रिभुवनमें । महा-दीपोत्सव ॥ ८९ ॥

यह है अर्जुन अपने ही पगसे । चलना अपनी ही पीठपर जैसे ।
यह है असंभव यदि तुझसे । कहता हूँ अन्य मार्ग ॥ ३९० ॥

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २९ ॥

ऐसा निष्पाप जो योगी आत्मामें स्थिर होकर ।
सुखसे भोगता नित्य ब्रह्मानंद अपार जो ॥ २८ ॥

भूतोंमें पूर्ण है आत्मा आत्मामें भूत है भरे ।
देखता योगसे युक्त सर्वत्र सम दर्शन ॥ २९ ॥

मैं हूं जैसे सकल देहमें । वैसे हैं सकल ही मुझमें ।
विचार करना है इसमें । कुछ नहीं अन्य ॥ ९१ ॥

यह है ऐसा ही बना हुआ । परस्पर सभी घुला हुआ ।
किंतु बुद्धिसे है माना हुआ । होना सब ॥ ९२ ॥

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥

नहीं तो भी अर्जुन । एकत्वकी भावना ।
सर्वभूत अभिन्न । भजते मुझे ॥ ९३ ॥

जीव-जातिका अनेकपन । न मानता जो अंतःकरण ।
सर्वत्र एकत्व अनुदिन । मानता मेरा ॥ ९४ ॥

वह है मुझमें ही विलीन । व्यर्थका ऐसा वचन ।
न कहने पर भी तू जान । वह है मैं ही ॥ ९५ ॥

जैसे दीप और प्रकाश । वैसे हैं दोनों समरस ।
उसका है मुझमें वास । मेरा उसमें ॥ ९६ ॥

जैसे पानीमें है भीनापन । या गगनमें है पोलापन ।
मेरे लावण्यसे लूनापन । पाता है वह ॥ ९७ ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥

जिसकी ऐक्यकी दृष्टिमें । मैं ही समस्त हूँ सबमें ।
जैसे दीखता है पटमें । सूत सर्वत्र ॥ ९८ ॥

सबमें मुझको देख मुझमें देखता सब ।
वियोग न उसे मेरा मुझे न उसका कभी ॥ ३० ॥

भजता है मुझे एक स्थिर हो सब भूतमें ।
कैसे भी रहता योगी रहता मुझमें वह ॥ ३१ ॥

जैसे होते हैं गहनोंके विविध आकार। किंतु न होते सुवर्णके नाना प्रकार।
ऐसी है जिस एकताकी स्थिति स्थिर। की है अपनी॥ ९९॥

अथवा वृक्षके होते जितने दल। उतने नहीं होते गाछ विपुल।
अद्वय प्रकाशमें खुला है सकल। द्वैतमत जिसका॥ ४००॥

यदि वह पंचात्मकमें बसता। फिर भी उसमें नहीं है फंसता।
अनुभवसे है उसकी क्षमता। मेरे समान॥ १॥

मेरा समस्त व्यापक पन। करता जो स्वानुभव पान।
कहे बिना ही व्यापक जान। हुआ वह सहज॥ २॥

यदि वह शरीरमें है। शरीरका बोध नहीं है।
उस स्थितिका वर्णन है। शब्दातीत॥ ३॥

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ ३२॥

उसका वर्ण असाधारण। देखता वह अपने समान।
स-चराचरके है अनुदिन। पांडुकुमार॥ ४॥

सुखदुःखादिक धर्म। या शुभ अशुभ कर्म।
ऐसे दोनों मनो-धर्म। न जानता वह॥ ५॥

ये सम विषम भाव। अन्य विविधता सर्व।
मानो जैसे अवयव। अपने ही॥ ६॥

कहना क्या है भिन्न भिन्न। यह त्रिलोक ही संपूर्ण।
मैं स्वयं हूं इसका ज्ञान। हुआ सहज॥ ७॥

अजी! इसको भी है एक तन। कहते हैं इसको सुखी दुखी जन।
किंतु हमारा यह मत जान। वह है परब्रह्म ही॥ ८॥

अपनेमें विश्वको देखना। तथा आप ही है विश्व होना।
कर यह साम्य उपासना। अर्जुन तू॥ ९॥

सर्वत्र समबुध्दीसे देखें आत्म समान जो।
सुख दुःख सम माने योगी उत्तम मानना॥ ३२॥

इसीलिये मैं तुझसे सतत । कहता हूं रहो साम्यमें रत ।
साम्यसे बड़ा नहीं कुछ प्राप्त । रहता त्रिभुवनमें ॥ ४१० ॥

अर्जुन उवाच

योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥

चंचल मनको कैसे स्थिर किया जाय--

कहता है "देव!" अर्जुन । तू कहता है सकरुण ।
किंतु मनकी उलझन । टिकने नहीं देती ॥ ११ ॥

यह कैसा कितना है मन । इसका नहीं होता है भान ।
किंतु छोटा माना त्रिभुवन । भटकनेमें इसके ॥ १२ ॥

तब यह ऐसा होगा जी कैसा । मर्कट समाधि लगाये कैसा ।
अंधड रोकनेसे रुके कैसा । लगता असंभव ॥ १३ ॥

अजी! वह बुद्धिको है छलता । उसके निश्चयको है टालता ।
धीरजको छकाकर भागता । झांसा देकर ॥ १४ ॥

विवेकको है भरमाता । तृप्तिको चाहकी लत लगाता ।
आसनस्थको भी भटकाता । दश दिशामें ॥ १५ ॥

पकडनेसे जो अधिक उछलता । निग्रहको अपना साथी बना लेता ।
अपना स्वप्न छोडनेकी शक्यता । न दीखती मनकी ॥ १६ ॥

अर्जुनने कहा

अब तू मुझसे बोला साम्य योग जनार्दन ।
दीखे न इसका स्थैर्य क्यों कि चंचल है मन ॥ ३३ ॥

मन चंचल अत्यंत प्रमत्त बलवान जो ।
दीखे दुष्कर वायूसा निग्रह उसका मुझे ॥ ३४ ॥

ऐसा मन निश्चल होगा। हमें तब साम्य मिलेगा।
ऐसा कुछ भी नहीं होगा। दीखता यह ॥ १७ ॥

भगवान उवाच

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥

अभ्यास और वैराग्यसे मानवी-मन स्थिर होता है—

कृष्ण कहता सच है बात। तू कहता है यह निश्चित।
इस मनकी यही हालत। चंचल स्वभाव ॥ १८ ॥

किंतु लेकर वैराग्यका आधार। तथा अभ्याससे उसे मोडकर।
परिश्रम करनेसे होगा स्थिर। कालांतरमें वह ॥ १९ ॥

मनकी बात है एक नेक। लल्चे रससे स कौतुक।
दिखाना आत्मानुभव सुख। संकेतसे सतत ॥ ४२० ॥

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप्य इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥ ३६ ॥

जिनमें विरक्ति है नहीं। अभ्यासमें वे आते नहीं।
उनका मन स्थिरता नहीं। यह जानते हम ॥ २१ ॥

राह न देखी यम नियमोंकी। कभी भेंट नहीं की वैराग्यकी।
विषय सागरमें दे डुबकी। बैठ रहे जो ॥ २२ ॥

मनको कभी जन्मसे कहीं। युक्तिका चिमटा दिया नहीं।
तब वह स्थिर होगा कहीं। कहांसे भला ॥ २३ ॥

श्री भगवानने कहा

अवश्य मन दुःसाध्य कहता तू सही यह।
जान तू साध्य होता है अभ्यास औ' विरागसे ॥ ३५ ॥

बिन संयमके योग मानता हूं असाध्य मैं।
होता प्रयत्नसे साध्य संयमीको उपायसे ॥ ३६ ॥

मनका निग्रह करना होगा । उपाय ऐसा करना पड़ेगा ।
तब वह स्थिर न कैसा होगा । देखेंगे हम ॥ २४ ॥
तब क्या सारे योगासन । व्यर्थके क्या ये अनुष्ठान ।
किंतु होती नहीं साधना । कहो हमसे ॥ २५ ॥
अपनेमें यदि होता है योग-बल । तब होता है कितना मन चंचल ।
यह महत्तत्व आदि जो सकल । आधीन अपने ॥ २६ ॥

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥ ३७ ॥

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥

अर्जुन कहता तब यह उचित । देव नहीं कहता है कभी गलत ।
योग बल सम्मुख होती क्या बात । मनके बलकी ॥ २७ ॥
किंतु न जानते हम योग है कैसा । उसके ज्ञानकी गंध भी नहीं जैसा ।
तभी कहते मन अनिर्बंध ऐसा । अयासके बिन ॥ २८ ॥

अर्जुनने कहा

श्रद्धायुक्त यत्न-हीन योग-चलित चित्त जो ।
कौनसी गति पायेगा योगकी सिद्धिके बिना ॥ ३७ ॥
होगा क्या उभय भ्रष्ट भूलके ब्रह्म मार्गको ।
नाश पाता निराधार टूटे बादल-सा कहीं ॥ ३८ ॥
मेरा संशय श्रीकृष्ण मूलतः दूर तू कर ।
तेरे बिन नहीं कोई करेगा दूर जो इसे ॥ ३९ ॥

जन्म भरमें देव अभी हम । तव प्रसादसे पुरुषोत्तम ।
सुन सके योग विद्याका मर्म । इस क्षणमें यहां ॥ २९ ॥

साधना अधुरी रही तो ?—

किंतु देव और एक । मनमें है अकधक ।
तुझसे कौन है नेक । दूर करेगा ॥ ४३० ॥

कह तू हे गोविंद । कोई जो मोक्ष-पद ।
चाहता है सश्रद्ध । विना युक्तिके ॥ ३१ ॥

निकला वह इंद्रिय-ग्रामसे । पथमें चला भी अति श्रद्धासे ।
आत्म-सिद्धिके महा उद्देश्यसे । आलिंगन करने ॥ ३२ ॥

किंतु न पहुंचा आत्म-सिद्धिको । लौट न सकता मूल स्थानको ।
गया बीचमें ही अस्ताचलको । आयुष्य-भानु ॥ ३३ ॥

अकालमें जैसे बादल । आ जाते हैं अति विरल ।
शायद आते हैं केवल । बरसते नहीं ॥ ३४ ॥

ऐसे खोये गये वे दोनोंसे । दूर हो अति मोक्ष-पदसे ।
पद न पानेकी निराशासे । श्रद्धाके कारण ॥ ३५ ॥

गया वह ऐसा समयाभावसे । तथा आत्म-सिद्धकी महा-श्रद्धासे ।
उसकी गति अब बनेगी कैसे । कहना मुझे ॥ ३६ ॥

भगवान उवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥ ४० ॥

सन्मार्ग पर चलनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती—

कृष्ण कहते हैं तब पार्थ । जिसको मोक्ष-सुखकी आस्था ।
उसको मोक्ष बिन अन्यथा । नहीं गति ॥ ३७ ॥

श्री भगवानने कहा

न होगा उसका नाश इस या उस लोकमें ।
कल्याण करके कोई नहीं पाता बुरी गति ॥ ४० ॥

किंतु बीचमें इतना होता । उसे थोडा सुस्ताना पड़ता ।
इताना जो सुखमय होता । देवोंको भी दुर्लभ ॥ ३८ ॥

अभ्यास-पग यदि शीघ्र उठाता । फुर्तीसे वह डग यदि भरता ।
सहज वह आत्म-सिद्धि है पाता । समय रहते ही ॥ ३९ ॥

किंतु वेग नहीं जब उतना । होता है तब विवश सुस्ताना ।
फिर है निश्चित सिद्धि महान । धरोहर रूप ॥ ४४० ॥

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

सुन तू होता कैसा कौतुक । सायास करके शत-मख ।
पाते हैं जो वही पाता सुख । सहज कैवल्यका ॥ ४१ ॥

वहां भी फिर जो अमोघ । करता अलौकिक भोग ।
उससे उकताके तंग । लौटता वह ॥ ४२ ॥

विघ्न हैं क्यों यह यकायक । साधनामें जो बाधाकारक ।
स्वर्ग भोग भी तापदायक । मानता वह ॥ ४३ ॥

फिर वह संसारमें जन्म लेता । घर जो धर्मका सहारा रहता ।
सकल विभवश्रीका क्षेत्र होता । उसका अंकुर बन ॥ ४४ ॥

नीति पथसे जहां चलते । सत्य पूत ही उच्चारते ।
देखना है जो वही देखते । शास्त्र दृष्टिसे ॥ ४५ ॥

वेद ही जागृत दैव जहां । सदाचार ही व्यापार वहां ।
सारासार विचारही जहां । बनता मंत्री ॥ ४६ ॥

जिस घरमें रहती चिंता । होकर ईश्वरकी पतिव्रता ।
जिससे रहती गृह देवता । आदि ऋध्दि ॥ ४७ ॥

निज पुण्यका जहां संचय होता । सकल सुखका व्यापार चलता ।
ऐसे कुलमें सुखसे जन्म लेता । योग-भ्रष्ट वह ॥ ४८ ॥

रहके पुण्य लोकोंमें जो योग-भ्रष्ट संतत ।
शुचि साधनवंतोंके घरोंमें जन्मता फिर ॥ ४१ ॥

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमाताम् ।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिध्दौ कुरुनन्दन ॥४३॥

या हैं जो ज्ञानग्निमें करते हवन । या ब्रह्मनिष्ठ वेदशास्त्रादि संपन्न ।
अथवा ब्रह्मसुखानुभूत महान । होते हैं पार्थ ॥ ४९ ॥

या सिद्धांत सिंहासनपे बैठकर । राज्य करते हैं त्रिभुवन पर ।
संतोष वनमें कोयल बनकर । कूकते रहते ॥ ४५० ॥

या विवेक ग्रामके हृदयमें । बैठ निरत हैं फलाहारमें ।
ऐसे महायोगियोंके घरमें । पाते हैं जन्म ॥ ५१ ॥

छोटीसी देहाकृतिमें ही उदित । निज ज्ञानका प्रातःकाल निश्चित ।
जैसे सूर्योदयके पूर्व होता नित । अरुणोदय वैसा ॥ ५२ ॥

वैसे अवस्थाकी राह न देखती । वयका गांव भी नहीं पूछती ।
बालपनमें ही है ब्याह लेती । सर्वज्ञता उसे ॥ ५३ ॥

सिद्ध प्रज्ञाके उसी लाभसे । सारस्वत प्रसवता है मनसे ।
फिर सकल शास्त्र हैं मुखसे । निकलते सहज ॥ ५४ ॥

ऐसा है वह दिव्य जन्म । जिसकेलिये हो सकाम ।
करते देव स्वर्गमें होम । सदा सर्वत्र ॥ ५५ ॥

अमरोंको है भाट बनना । मृत्यु-लोकके गुण हैं गाना ।
ऐसा है वह जन्म अर्जुन । पाता है जो ॥ ५६ ॥

अथवा प्राज्ञ योगीके कुलमें जन्मता वह ।
बडा दुर्लभ है ऐसा जन्म पाना जगतमें ॥ ४२ ॥

वहां जो पूर्व-जन्मके बुद्धि संस्कार पाकर ।
मोक्षार्थ करता यत्न पानेमें सिद्धि उत्तम ॥ ४३ ॥

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥४४॥

तथा पूर्व-जन्मकी जो सद्बुद्धि । जीवन पर्यंतकी जो अवधि ।
फिर वही आगे भी निरवधि । खिलती जाती ॥ ५७ ॥

पायालु है जो दैवयोगसे । औ' दिव्यांजन पडी आंखोंसे ।
देखता गुप्त संपदा जैसे । पातालकी भी ॥ ५८ ॥

वैसे दुर्भेद होते जो सिद्धांत । गुरु-करुणासे ही बुध्दिगत ।
करता है उन्हे ग्रहण चित्त । सहज भावसे ॥ ५९ ॥

इंद्रियां होती हैं मनके आधीन । मन होता है पवनमें विलीन ।
मूर्ध्न्याकाशमें सहज ही पवन । विलीन हो जाता ॥ ४६० ॥

होता है यह सहज भावसे । अभ्यास होता अपने आपसे ।
पूछने आती समाधि आपसे । मानसका घर ॥ ६१ ॥

मानो होता वह योगपीठका भैरव । अथवा हो कार्यारंभका गौरव ।
अथवा है वैराग्य सिध्दिका अनुभव । आया आकार लेकर ॥ ६२ ॥

जैसे यह संसार अंकनका नाप । अथवा अष्टांग योग साधन दीप ।
जैसे परिमलने ही लिया है रूप । चंदनका ॥ ६३ ॥

संतोषकी बनी मूर्तिसा । सिध्द समाजकी कीर्तिसा ।
होता योग्यताका पुंजसा । साधक दशामें ही ॥ ६४ ॥

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥

समय शतकोटिवर्षोंका । प्रतिबंध जन्म सहस्रका ।
लांघके पाया आत्म-सिध्दिका । किनारा वह ॥ ६५ ॥

पूर्वाभ्यास बलसे ही खींचे अवश होकर ।
योग-ज्ञान इच्छासे ही शब्दके पार लांघके ॥ ४४ ॥

यत्नसे रहके योगी दोषोंसे मुक्त होकर ।
अनेक जन्ममें पाता पूर्ण होके महापद ॥ ४५ ॥

तब है साधना मात्र संपूर्ण । करती उसका अनुकरण ।
जिससे पाता वह सिंहासन । विवेक राज्यका ॥ ६६ ॥

फिर वह गतिसे विवेककी । लांघ जाता है सीमा विवेककी ।
बनता है वह विचारान्तकी । मूर्ति ही मानो ॥ ६७ ॥

मन-बादल वहां छटता । पवनका पवनत्व जाता ।
आकाशका भी विलय होता । अपनेमें ही ॥ ६८ ॥

होता पवनकी अर्धमात्रामें लीन । इतना वह शब्द-सुख संपन्न ।
जिससे होता है उसका शब्द मौन । अपने आप ॥ ६९ ॥

ऐसी है यह ब्राह्मी-स्थिति । सब गतिकी जो है गति ।
ऐसी वह अमूर्त मूर्ति । बनता स्वयं ॥ ७० ॥

अपने अनेक जन्मोंमें पूर्वके । जाल झटका दिये थे विक्षेपके ।
इसलिये क्षणमें ही जनमके । लग्न घटिका भरी ॥ ७१ ॥

किया तद्रूपतासे लग्न । उसने होकर अभिन्न ।
अभ्र लोपसे है गगन । होता एक रूप ॥ ७२ ॥

जहांसे होता विश्व उत्पन्न । तथा होता है जहां विलीन ।
प्राप्त करता है विद्यमान । शरीरके ही ॥ ७३ ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

जिस लाभकी करके आशा । धैर्य-बहूका किये भरोसा ।
कूदते हैं करके साहस । कर्मनिष्ठ ॥ ७४ ॥

अथवा जिस वस्तुकेलिये । ज्ञान-कवच पहन लिये ।
जूझे प्रपंचमें जिसलिये । ज्ञानी जन ॥ ७५ ॥

अथवा फिसड्डी निराधार । तप दुर्गकी टूटी दिवार ।
भिडे उसको चढ़ने घोर । तपस्वी जन ॥ ७६ ॥

ज्ञानी तापस कर्मिष्ठ इनसे जो विशेष है ।
माना है श्रेष्ठ योगीको योगी हो पार्थ तू तभी ॥ ४६ ॥

या जो भजकोंका भजनीय । तथा पूजकोंका पूजनीय ।
और याज्ञिकोंका यजनीय । सदा सर्वत्र ॥ ७७ ॥

वही तत्व जो पूर्ण । हुआ स्वयं निर्वाण ।
जो साधना कारण । सिद्ध तत्व ॥ ७८ ॥

तभी कर्म निष्ठोंमें वंद्य । तथा ज्ञानियोंमें है वेद्य ।
है वह तापसमें आद्य । तपोनाथ ॥ ७९ ॥

जीव और परमात्म-संगम । जिसका है ऐसा मनोधर्म ।
होती है उस तनकी महिमा । अपार यहां ॥ ४८० ॥

तभी मैं इस कारणसे । कहता हूं सदा तुझसे ।
योगी हो अंतःकरणसे । अर्जुन तू ॥ ८१ ॥

योगीनामपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥

अजी योगी जो कहलाता । देवोंका वह देव होता ।
मेरा सुख सर्वस्व तथा । चैतन्य ही वह ॥ ८२ ॥

जिसके भजनसे भजनीय भजन । तथा यह भक्ति साधन स्वयं संपूर्ण ।
हुआ वह स्वयं अनुभवसे तू जान । अखंडित ॥ ८३ ॥

फिर हमारे प्रेमका । स्वरूप नहीं वाचाका ।
अनिर्वचन है उसका । विषय अर्जुन ॥ ८४ ॥

वह है जो प्रेम एकात्म । उसकी है योग्य उपमा ।
मैं शरीर और वह आत्मा । यही एक ॥ ८५ ॥

ऐसा भक्त चकोर-चंद्र । वह भुवनैक नरेंद्र ।
बोला सर्वगुण समुद्र । कहता संजय ॥ ८६ ॥

जहां पहलेसे ही पार्थ । जानना चाहता था सार्थ ।
जान लिया है यदुनाथ । हुआ अधीर ॥ ८७ ॥

श्रेष्ठ है योगियोंमें जो मुझमें प्राण रोपके ।
भजता मुझ श्रद्धासे मानता श्रेष्ठ मैं उसे ॥ ४७ ॥

जान कर वह प्रमुदित मन । निरूपणका है यथार्थ ग्रहण ।
करता है यह जैसे सुदर्पण । कहेगा श्रीरंग ॥ ८८ ॥

ऐसा प्रसंग आगे आयेगा । वहां शांत रस खिला होगा ।
अब है वहां बोया जायेगा । प्रमेय बीज ॥ ८९ ॥

सत्वकी वर्षासे पिघला ढेला । हुआ चित्तका बाग गुलगुला ।
सहजतासे हुआ क्षेत्र कोमल । इस समय ॥ ४९० ॥

फिर अवधानकी क्यारी सुंदर । मिली स्वर्णमय इस अवसर ।
निवृत्त-चित्तने यह जान कर । प्रेरणा दी बुवाईकी ॥ ९१ ॥

चाह कर किया मुझे प्रेमसे । सद्गुरुने सहज लीलासे ।
बीज बोया आशीर्वादसे । कहता ज्ञानदेव ॥ ९२ ॥

सो मेरी वाणीसे जो निकलेगा । सन्त हृदयमें महुलायेगा ।
रहने दो अब क्या कहा कहियेगा । श्रीरंगने वहां ॥ ९३ ॥

किंतु वह मनके कानसे सुनना । शब्द है जो बुद्धि-नयनसे देखना ।
चित्तकी कीमत देकर ही है लेना । मेरे शब्द ॥ ९४ ॥

यह सब ध्यान देकर । ले जाना हृदय-भीतर ।
सज्जनोंको ये निरंतर । देंगे संतोष ॥ ९५ ॥

स्वहितको स्थिर करेंगे । पूर्णत्वको जगायेंगे ।
तथा लखौरी चढ़ायेंगे । जीव पर ये ॥ ९६ ॥

अब जो मुकुंद अर्जुनसे । बोलेगा सुंदर विनोदसे ।
वह सब ओवीके छंदसे । कहूंगा मैं ॥ ४९७ ॥

गीता श्लोक ४७

ज्ञानेश्वरी ओवी ४९७.

ज्ञानविज्ञानयोग

भगवान उवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

प्रापंचिक ज्ञान विज्ञान है, इसको सत्य मानना अज्ञान—

सुन तू अब पार्थ । कहता है अनंत ।
हुआ है योग-युक्त । इस समय ॥ १ ॥

जानता तू मुझे पूर्ण रूपसे । हथेली पर रखे रत्नके जैसे ।
अब तुझे ज्ञान कहूंगा मैं वैसे । विज्ञान सह जो ॥ २ ॥

यहां विज्ञानका है क्या करना । ऐसी यदि तेरी मनो भावना ।
किंतु उसको पहले जानना । आवश्यक यहां ॥ ३ ॥

क्यों कि ससयमें स्वरूपज्ञानके । मिटता यह नश्वर पहुंचके ।
जैसे किनारेसे लगे जहाजके । नहीं है वेग ॥ ४ ॥

श्री भगवानने कहा

ीतिसे आसरा मेरा लेके जो योग साधते ।
कसे समग्र निःशंक जानेंगे मुझसे सुन ॥ १ ॥

विज्ञान सह जो ज्ञान संपूर्ण कहता तुझे ।
जानके जो नहीं अन्य जगमें जानना रहा ॥ २ ॥